निरुक्तसारनिदर्शन

लेखक :

डॉ० कुंवरलाल 'व्यासशिष्य'
एम० ए०, आचार्य, शास्त्री

प्राक्कथन :

डॉ० कृष्णलाल
रीडर (संस्कृत)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

इतिहासविद्याप्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक :
इतिहासविद्याप्रकाशन
10-बी, पंजाबी बस्ती,
नांगलोई, दिल्ली-41.

मूल्य :

पुस्तकालय संस्करण : 15.00
(सजिल्द)

प्रथम संस्करण : 1978

मुद्रक :
जयभारत प्रिन्टर्स,
2082, मुकीमपुरा, सब्जीमण्डी
दिल्ली-110007.

NIRUKTA SĀR NIDARŚANA

AUTHOR :
Dr. KUNWAR LAL, Vyasshisya

Foreword by :
Dr. KRISHAN LAL
Reader (Sanskrit)
UNIVERSITY OF DELHI,
DELHI

ITIHASA VIDYA PRAKASHAN, DELHI

F. E-1000, 1978

विषय-सूची

संक्षिप्त संकेत

अथर्ववेद=अथर्व
आपस्तम्बश्रौतसूत्र=आ० श्रौ०
ऋग्वेद=ऋ०
तैत्तिरीयसंहिता=तै० सं०
निरुक्तशास्त्र=नि०
बृहद्देवता=बृ०
मनुस्मृति=म० स्मृ०
यजुर्वेद=यजु०
वायुपुराण=वा० पु०
शतपथब्राह्मण=श० ब्रा०
शान्तिपर्व=शा० प०
हरिवंशपुराण=हृ० पु०

प्राक्कथन

डॉ० कुंवरलाल की पुस्तक निरुक्तसारनिदर्शन निरुक्त के सभी मन्तव्यों और उसके रचयिता यास्क के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचन को साररूप में संक्षेप में रखने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक की मौलिक विशेषता यह है कि इसमें केवल पाश्चात्य या तदनुसारी आधुनिक भारतीय मत का पिष्टपेषण न करके तर्कपूर्वक प्रत्येक विषय पर विचार किया गया है। उदाहरणार्थ उनका यह कथन उनके निष्पक्ष चिन्तन का परिणाम है—

'इंडोयोरोपियन नाम की भाषा न तो पहिले कभी थी और न आज ही है।' यास्क का काल, निघण्टु और यास्क, भाषा-विज्ञान को यास्क का योगदान यास्ककालीन भाषा आदि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार के अतिरिक्त निरुक्त के विभिन्न अध्यायों को सरलभाषा में संक्षेप में समझाया गया है। यास्क के प्रमुख निर्वचन और उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है।

आशा है कि यह पुस्तक संक्षेप में निरुक्त का एक सही चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ होगी।

कृष्णलाल
उपाचार्य, संस्कृतविभाग,
दिल्ली वि० वि०
दिल्ली

आमुख

वेदार्थज्ञान के लिए यास्ककृत निरुक्तशास्त्र ही एकमात्र एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है और इसकी अनेक विस्तृत एवं विशालकाय टीकायें एवं भाष्य उपलब्ध हैं, परन्तु प्रारम्भिक जिज्ञासु उन विशाल भाष्यादि से यथार्थ लाभ नहीं उठा सकता। भारती (हिन्दी) भाषा में इस विषय की कोई सुबोध पुस्तक है ही नहीं। इसी दृष्टि को रखकर इस लघु पुस्तक में यास्कीय निरुक्तशास्त्र के प्रत्येक अध्याय एवं प्रकरण का सार प्रस्तुत किया गया है। और यथास्थान उपयुक्त स्थलों की मार्गदर्शित व्याख्या भारतीय दृष्टिकोण से की गई है, इस दृष्टि से यह प्रथम लघु प्रयास है, आशा है कि विद्वान् एवं जिज्ञासु—इसका स्वागत करेंगे।
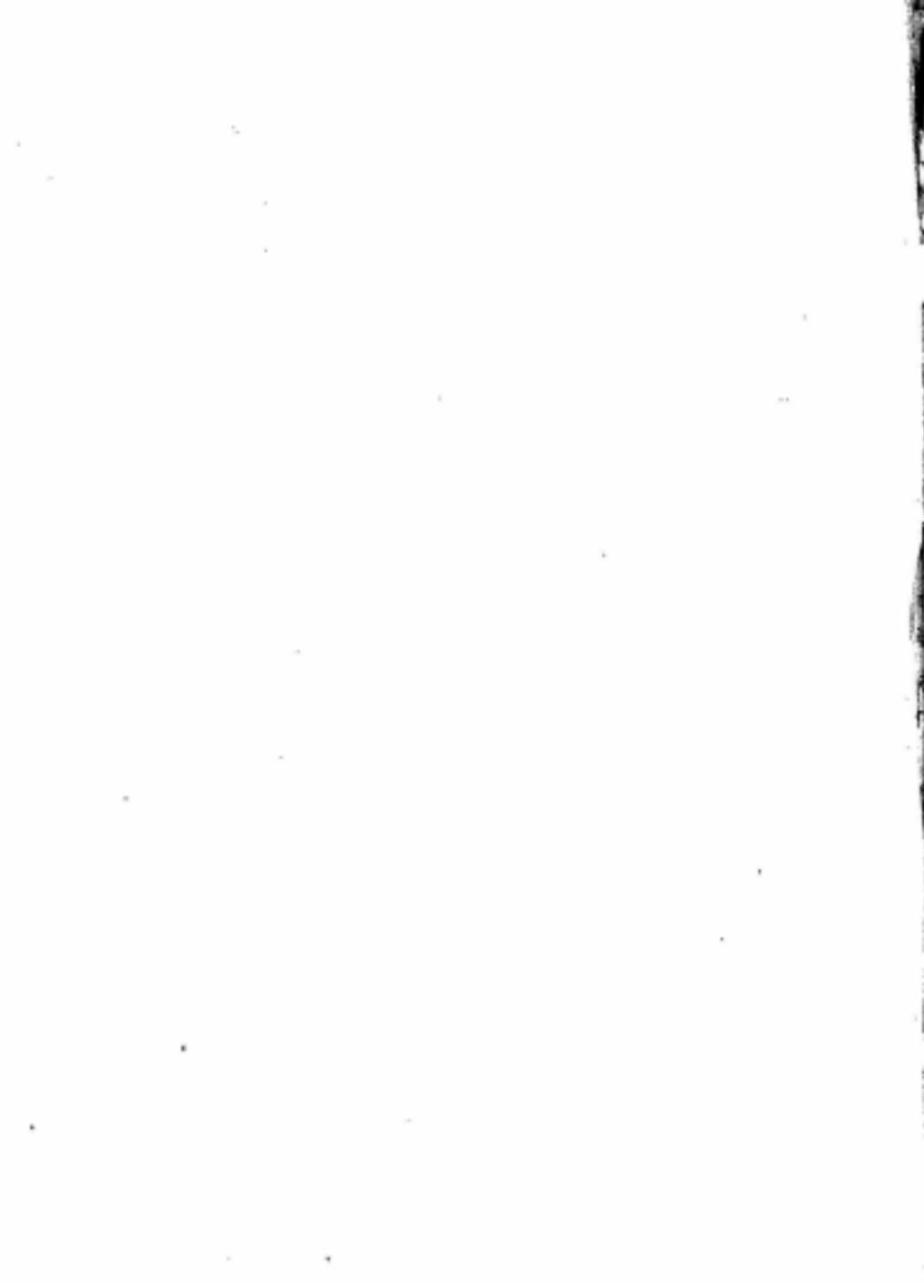
पुस्तक में आठ अध्याय हैं—प्रथम अध्याय में आचार्य यास्क का ऐतिहासिक परिचय लिखा गया है, द्वितीय अध्याय में यास्ककालीन भाषा एवं कतिपय भाषासिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन है, तृतीय अध्याय में भाषापरिवर्तन और निर्वचनसिद्धान्त कथित हैं, चतुर्थ अध्याय में सिद्ध किया गया है कि सनातन काल से ही वेदमन्त्रों में इतिहास माना जाता रहा है। पंचम अध्याय में निघण्टु (वैदिककोश) के अधिकांश पदों का संकलन है, अग्रिम दो अध्यायों में यास्कीयनिर्वचन के निदर्शन प्रदर्शित किये गये हैं। अन्तिम अष्टम अध्याय में दैवतविज्ञान का विस्तृत विवेचन है और अन्त में एक परिशिष्ट में भयोविद्य यास्क के के ज्ञानगौरव का कथन है।

आशा है कि यह पुस्तक जिज्ञासु एवं विद्वान् के लिए भी परमोपयोगी रहेगी, पुस्तक में छापपक्ष पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है, पुस्तकों के गुण दोषों का निर्णय विद्वानों पर ही छोड़ता हूँ।

वि० 1-8-1978
दिल्ली

विदुषां वशंवदः
डा० कुंवरलाल 'व्यासशिष्य'

प्रथम अध्याय

निरुक्त और यास्क

वेदार्थ ज्ञान के लिए महर्षि यास्ककृत निरुक्तशास्त्र सर्वोत्तम सहायक ग्रन्थ है। वेदाङ्ग छः हैं :—

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां च य।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र, और ज्योतिषशास्त्र। इनमें निरुक्तशास्त्र वेद का श्रोत्र या कान माना गया है—

'निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते'

जिस प्रकार श्रोत्ररहित (बहरा) मनुष्य न कुछ सुन सकता है और न कुछ समझ सकता है, उसी प्रकार निरुक्त ज्ञान के बिना कोई भी वेद के श्रवण या ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता और जो मनुष्य वेदार्थ को नहीं जानता, वह निश्चय ही ठूंठ के समान है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा योऽर्थम्॥

पुरुष समस्त कल्याण को प्राप्त करता है और ज्ञान विधूतपाप्मा स्वर्ग को प्राप्त करता है

स्वयं वेद मन्त्र में अर्थज्ञान की महिमा गाई है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

"एक मनुष्य देखता हुआ भी वाणी को नहीं देख पाता और एक सुनकर भी

नहीं सुन पाता (नहीं समझता), और एक के लिये वाक् पत्नी के समान अपने शरीर को खोल देती है, सुवासा स्त्री के समान ।।"

अतः वेदज्ञान के लिये अर्थज्ञान परमावश्यक है, उसका प्रधान साधन निरुक्त या निर्वचन है।

पूर्वाचार्य :—इस समय केवल यास्ककृत निरुक्तशास्त्र इस विषय का एकमात्र ग्रन्थ प्राप्य है, परन्तु स्वयं यास्कीय निरुक्त एवं अन्य प्राचीन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यास्क सहित कम से कम 14 निरुक्ताचार्यों ने निरुक्त शास्त्र लिखे थे। आचार्य दुर्ग ने लिखा है—'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्। निरुक्त चतुर्दशधा इति, (निरुक्तवृत्ति 1-13, 1-20)।

षड्वेदाङ्गों के आदिप्रवर्तक भारतीयपरम्परा में आचार्य शिव और देवगुरु बृहस्पति थे। शिव के विषय में महाभारत (12-284-92) में लिखा है—'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य' इसी प्रकार देवगुरु बृहस्पति ने वेदाङ्गों की रचना की—

'वेदाङ्गानि बृहस्पतिः, (12-112-32)।

यास्काचार्य ने इन तथ्यों को इस प्रकार निबद्ध किया है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते ऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च ।।" (निरुक्त 1।20) "साक्षात्कृतधर्मा ऋषि थे, उन्होंने असाक्षात्कृत अवरों को उपदेश द्वारा मन्त्र दिये। उपदेश ग्रहण या दान में कष्ट अनुभव करने वाले अवर ऋषियों ने वेद और वेदाङ्गों का समाम्नाय (ग्रन्थन या लेखन) द्वारा प्रकाशन किया।"

यास्क ने निरुक्त में जिन 13 निरुक्ताचार्यों का उल्लेख किया है, वे हैं (1) शाकटायन (2) शाकपूणि (3) गार्ग्य (4) औदुम्बरायण (5) औपमन्यव (6) वार्ष्यायणि (7) आग्रहायण (8) और्णनाभ (9) तैटीकि (10) गालव (11) स्थौलाष्ठीवि (12) क्रौष्टुकि और (13) कात्थक्य और अन्तिम चतुर्दश और सर्वश्रेष्ठ आचार्य स्वयं यास्क हुये। इन सभी पूर्वाचार्यों के मतों का

यास्काचार्य ने स्थान-स्थान पर निर्देश किया है, अतः सभी ये यास्क से पूर्व हुये, इन सबका यहाँ संक्षेप में परिचय लिखा जा रहा है।

शाकटायन :—यास्क ने निरुक्त में अनेकशः शाकटायन के मतों का उल्लेख किया है, यथा दो मत द्रष्टव्य हैं—

(1) "तत्र नामान्याख्यातजानीति नैरुक्तसमयश्च" (नि० 1।12) "शाकटायन एवं अन्य नैरुक्ताचार्यों का सिद्धान्त है कि समस्त नाम (संज्ञायें) धातुज (आख्यातज) हैं।

(2) पदेभ्यः पदेतरार्धान्त्संचस्कारेति शाकटायनः "धातु के अर्थभागों में शाकटायन ने संस्कार किया है।"

शाकटायन के पिता या पूर्वज का नाम शकट था अतः वे शाकटायन कहलाये, इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। 'ऋक्तन्त्र' नाम प्रसिद्ध ग्रन्थ भी शाकटायन की रचना है। अनुमान है कि शाकटायन यास्क से कई शती पूर्व हुये।

गार्ग्य :—यह भी गोत्र नाम है, वास्तविक नाम इसका भी अज्ञात है, ये शाकटायन और यास्क के मध्यकाल में हुये, पाणिनि ने भी गार्ग्य के वैयाकरणिक मतों का उल्लेख किया है, अतः गार्ग्य नैरुक्ताचार्य और वैयाकरण दोनों ही थे। गार्ग्य और कुछ अन्य वैयाकरण सभी शब्दों को धातुज नहीं मानते थे—

"न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके" (नि० 1-12)

वार्ष्यायणि :—वसिष्ठ गोत्र के अन्तर्गत वृष या वृषगण आचार्य हुये। वृषगण के पुत्र या वंशज असित वार्षगण प्रसिद्ध सांख्याचार्य थे, जो नारद और व्यास के तुल्य लोकसम्पूजित ऋषि थे। इन्हीं वृष के वंश में आचार्य वार्ष्यायणि हुये। इनके धर्मसम्बन्धी मत आपस्तम्ब ने (धर्मसूत्र 1।6।19) उद्धृत किये हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने बड़े आदर से आचार्य वार्ष्यायणि को 'भगवान्' कहा है 'षड् भावविकारा इति स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः।" प्रायः ऐसा ही लेख यास्काचार्य ने लिखा "षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः" आचार्य वार्ष्यायणि के निरुक्तशास्त्र का इस समय कोई संकेत नहीं मिलता।

आग्रायण :—इनका नाम मात्र ही ज्ञात है। यास्क ने इनके मतों का उल्लेख किया है। इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं।

औपमन्यव :—भारतयुद्ध से पूर्व आयोदधौम्य आचार्य के तीन प्रसिद्ध शिष्य थे—उपमन्यु, आरुणि और वेद।[1] इनमें द्वितीय उद्दालक आरुणि प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य के गुरु और श्वेतकेतु के पिता थे, ये सभी आचार्य पाण्डवों के समकालीन थे और अपने ग्रन्थों का निर्माण महाभारतयुद्ध से पूर्व कर चुके थे।

आयोद धौम्य शिष्य उपमन्यु के पुत्र ही औपमन्यव प्रसिद्ध नैरुक्ताचार्य थे। ये यास्क के पूर्वकालीन आचार्य थे क्योंकि यास्क का उल्लेख श्रीकृष्ण के मुख से महाभारतग्रन्थ शान्तिपर्व में हुआ है अतः औपमन्यव और यास्क दोनों ही भारतयुद्ध से न्यूनतम अर्धशती पूर्व हुये। औपमन्यव का वास्तविक नाम अज्ञात ही है।

गालव (बाभ्रव्य) :—आचार्य गालव पाञ्चाल देश निवासी थे और बभ्रु के पुत्र थे, अतः इन्हें बाभ्रव्य पाञ्चाल भी कहते हैं, ये पाञ्चालराज ब्रह्मदत्त के मन्त्री भी थे, जो भीष्म के पितामह प्रतीप के समकालीन हुये, अतः गालव का समय पाराशर्य व्यास से कम से कम दो शती पूर्व था। आचार्य गालव को ऋग्वेद के क्रमपाठ का कर्त्ता एवं शिक्षा का निर्माता कहा गया है, इनके मतों का उल्लेख निरुक्त के अतिरिक्त ऋक्प्रातिशाख्य, बृहद्देवता और अष्टाध्यायी में भी मिलता है गालव दीर्घजीवी ऋषि थे जो युधिष्ठिर की सभा में उपस्थित हुये थे—

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ॥ (सभापर्व 4।21)।

शाकपूणि :—शेष औदुम्बरायणादि आचार्यों के विषय में कोई विशेष तथ्य ज्ञात नहीं है। इनके औदुम्बरायण, और्णनाभ आदि नाम पैतृक नाम हैं और वास्तविक नाम अज्ञात ही हैं। यास्क के पूर्वाचार्यों में सर्वाधिक प्रसिद्धतम नैरुक्ताचार्य राथीतर (रथीतरवंशज) शाकपूणि हुये, इनके निरुक्तशास्त्र का

1. कश्चिदृषिर्धौम्यो नामायोदस्तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुरुपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति।" (आदिपर्व 3।21)॥

यास्क पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा जिस प्रकार पाणिनि पर पूर्वाचार्य वैयाकरण आपिशलि का सर्वाधिक प्रभाव था, उसी प्रकार यास्क पर शाकपूणि का प्रभाव पड़ा शाकपूणि का निरुक्तशास्त्र भी यास्कीयनिरुक्त के प्रायः समान ही था, परन्तु उसमें भेद भी पर्याप्त था। जिस प्रकार पाणिनि व्याकरण के प्रादुर्भाव से अन्य प्राचीन व्याकरण लुप्त हो गये, उसी प्रकार यास्क के उदय से अन्य सभी प्राचीन निरुक्त लुप्त हो गये। इस सम्बन्ध में पं० भगवद्दत्त ने जो कुछ लिखा है, उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करते हैं।[1]—"·········शाकपूणि समाम्नात निघण्टु का क्रम भी लगभग यास्कीय निघण्टु सदृश ही था······ यास्क

(1) भ्रा=रात्रिनाम 1।6 यास्क में अपठित
(2) उदकम्=इति सुखनाम 3।6 ,, ,, ,,
(3) दाश्वान्। सविता। विवस्वति।
(4) विवस्वत। इति यजमान नाम 3।16, 18 के साथ यास्क में
(5) यम। इति यज्ञनाम यजमान नहीं है।

यास्क ने शाकपूणि के मत निरुक्त में सर्वाधिक उद्धृत किये हैं यथा 'अयमेवाग्निर्वैश्वानरइति शाकपूणि', 'अग्नि इति शाकपूणिः' इत्यादि बहुशः उल्लिखित हैं।

यास्क का वंश—यास्क एक गोत्र नाम था, जिस प्रकार वसिष्ठ, पाराशर्य, कौशिक, काश्यप इत्यादि। निरुक्तकार यास्क का वास्तविक नाम भी अज्ञात है—'यास्कादिभ्यो गोत्रे' (अष्टाध्यायी 2।4।63)। अतः यास्क एक गोत्र नाम था, इस गोत्र या वंश में यास्क नाम के अनेक पुरुष निश्चय पूर्वक हुये थे। एक यास्क जातूकर्ण्य के गुरु और व्यास पाराशर्य के पितामह गुरु थे, इस तथ्य का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (14।4।6।3) में हुआ है—

'पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्यो यास्कात्'

इन पाराशर्य को प्रायः विद्वान् पाराशर्य कृष्णद्वैपायन व्यास समझते हैं और जातूकर्ण्य व्यास के गुरु थे, ऐसा इतिहासपुराणों से भी सिद्ध है, परन्तु

(1) निरुक्तशास्त्रः पं० भगवद्दत्त, (पृ० 26-27)

पाराशर्य और जातूकर्ण्य भी गोत्र नाम थे, शतपथब्राह्मण की उक्त विद्यावंश-परम्परा में ही एकाधिक पाराशर्यों और पाराशर्यायणों का उल्लेख है, अतः पाराशर्यों, जातूकर्ण्यों और यास्कों के सम्बन्ध में इत्थमित्थम् कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। पाराशर्य व्यास के गुरु जातूकर्ण्य का गुरु यदि कोई यास्क था तो वह वर्तमान निरुक्तकार यास्क नहीं हो सकता क्योंकि निरुक्त में उल्लिखित शाकपूणि, औपमन्यव आदि निरुक्ताचार्य पाराशर्य व्यास की शिष्य परम्परा में हुये थे, क्योंकि शाकपूणि व्यास-शिष्य-परम्परा में पञ्चम थे—

व्यास पाराशर्य
|
पैल
|
इन्द्रप्रमिति
|
शाकल्य वेदमित्र
|
शाकपूणि राथीतर

अतः शाकपूणि के उत्तरकाल में होने वाले यास्क पाराशर्य व्यास के गुरु जातूकर्ण्य के गुरु कथमपि नहीं हो सकते। कुछ लोगों का भ्रम नाश करने के लिये, यहाँ यह तथ्य कुछ अधिक विस्तार से लिखा है कि यास्क एक गोत्र नाम था, इसके गोत्र में यास्क नाम के अनेक आचार्य हुये, निरुक्तकार यास्क पाराशर्य व्यास का गुरु नहीं था, वह व्यास की पाँचवीं या छठी पीढ़ी में हुआ, फिर भी निरुक्तकार यास्क का समय भारतयुद्ध से पूर्व था, यह तथ्य यहाँ सिद्ध किया जाता है।

यास्क (निरुक्तकार) का समय यास्क से पूर्व शाकपूणि, औपमन्यव आदि के निरुक्तशास्त्र रचे जा चुके थे, यद्यपि ये सभी आचार्य प्रायः समकालीन, परन्तु भारत युद्ध से पूर्व अपने-अपने ग्रन्थों का प्रणयन कर चुके थे। क्योंकि पितामह भीष्म भारतयुद्ध के अवसर पर शरशय्या पर पड़े हुये धर्मराज युधिष्ठिर को याज्ञवल्क्यकृत शतपथब्राह्मण, अष्टावक्र-जनक संवाद, यास्ककृत

निरुक्त प्रणयन की चर्चा करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं, भले-ही यास्क का निरुक्त भारतयुद्ध से एक दशक पूर्व रचा गया हो, वह युद्ध से पूर्व जगत में विख्यात हो चुका था. तभी तो वासुदेव कृष्ण नारायणीयोपाख्यान शान्तिपर्व में अर्जुन से कहते हैं—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्य नामधरो ह्यहम् ॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमधिजग्मिवान् ॥
(शान्ति० 342।72-73)

"विद्वान् यास्कर्षि ने अनेक यज्ञों में मेरी 'शिपिविष्ट' (विष्णु) इस गुह्यनाम से स्तुति की है। इस नाम से स्तुति करने के पश्चात् उदारधी यास्क ऋषि ने मेरी कृपा से नष्टप्रायः निरुक्त का उद्धार किया। यास्कऋषि कृष्ण के समकालीन थे, इसकी पुष्टि स्वयं यास्क के निम्न वचन से होती है—

"अक्रूरो ददते मणिम्। इत्यभिभाषन्ते", (नि० 2।2)

"अक्रूर (स्यमन्तक) मणि को धारण करता है, ऐसा लोक में आज (यास्ककाल में) लोग बोलते हैं।"

स्यमन्तकमणि की प्राचीनतम कथा हरिवंशपुराण (1।38-39 अध्याय) में मिलती है, वहाँ पर गान्दीपुत्र अक्रूर यज्ञों का उल्लेख मिलता है—

स्यमन्तककृते प्राज्ञो गान्दीपुत्रो महायशाः। 26 ॥
षष्टि वर्षाणि धर्मात्मा यज्ञेषु विन्ययोजयत् ।
अक्रूरयज्ञा इति ते ख्यातास्तस्य महात्मनः। 27 ॥

अतः अक्रूरमणि (स्यमन्तक) की ऐतिहासिक घटना-यास्क के समकालिक थी। यह घटना महाभारत युद्ध से पूर्व हो चुकी थी। अब यह ज्ञातव्य है कि भारत

(1) पाराशर्य व्यास का वेदचरण प्रवचन (शाखाविभाजन) शन्तनु राज्यकाल के अन्त में और भारतयुद्ध से 160 वर्ष पूर्व हुआ था युद्ध के समय भीष्म और व्यास की आयु 200 वर्ष के लगभग थी।

युद्ध का क्या समय था । आधुनिक ऐतिहासिकगण महाभारतयुद्ध का विभिन्न रूप से, स्वकल्पनाओं से 800 वि० पू० से 1400 वि० पू० इत्यादि काल मानते हैं । परन्तु सत्य भारतीय इतिहास के अनुसार भारतयुद्ध विक्रम सम्वत् से 3044 वर्ष पूर्व लड़ा गया था। अर्थात् अबसे 5078 वर्ष पूर्व । हमारा उद्देश्य यहां पर भारतीय इतिहास का कालक्रम (Chronology) लिखना नहीं है, परन्तु संक्षेप में भारतीय प्रमाणों से सिद्ध करेंगे कि भारत युद्ध 3044 वि० पू० हुआ था ।

पुराणों के अनुसार परीक्षित् से नन्द तक 1500 वर्ष हुए और परिक्षित-से आन्ध्र सातवाहन वंश के प्रारम्भ तक 2400 वर्ष समाप्त हुये, पुराणों में यहाँ पर प्रत्येक राजवंश का राज्यकाल दिया गया है, उनका योग 1500 होता अतः विष्णुपुराण और भागवतपुराण में परीक्षित् से नन्द तक 1500 वर्ष बताये गये हैं—

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चशतोत्तरम् ।। (
विष्णुपुराण 4।24।104) ।

वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार शन्तनुपिता प्रतीप से सात बाहन प्रारम्भ तक 2700 वर्ष या एक सप्तर्षि युग पूरा हुआ ।

सप्तर्षयस्तदा प्राहुः प्रतीपे राज्ञि वै शतम् ।
सप्तविंशैः शतैर्भाव्या अन्ध्राणान्तेऽन्वयाः पुनः ।।
वायु० 9।4।8 ब्र. 3।74।230

श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने कृत्तिकादि नक्षत्रगणना के आधार पर शतपथब्राह्मण का रचना काल 3100 शक पूर्व माना है । शतपथब्राह्मण व्यास के प्रशिष्य याज्ञवल्क्य की कृति है यास्क भी याज्ञवल्क्य के प्रायः समकालीन ही थे, अतः यास्क का भी यही समय है ।

शिलालेखों पर कलि सम्वत् का प्रारम्भ 3044 वि. पू. माना गया है, इसके अतिरिक्त आर्यभट्ट, वाराहमिहिर गर्ग आदि ज्योतिषियों एवं महाभारत के अन्तः साक्ष्य के आधार पर भी महाभारतयुद्ध का समय 3044 वि. पू.

सिद्ध होता है, इस सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थकारों में कोई मतभेद नहीं, मतभेद केवल आधुनिक अनुसन्धाताओं ने उत्पन्न किये हैं, अतः यास्क-का समय भारत युद्ध से पूर्व लगभग 3000 वि. पू. था इसमें कोई सन्देह नहीं।

यास्क और निघण्टु—पञ्चाध्यायात्मक ग्रन्थ निघण्टु वैदिक शब्दों का प्राचीनतम कोश है। यह यास्क की स्वतन्त्रकृति है या प्राचीनतर किसी आचार्य की कृति है यह निर्णय करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। महाभारत के पूर्वोद्धृत प्रसङ्ग में, जहाँ पर यास्क के निरुक्त का उल्लेख है, उसी अध्याय में प्रजापति कश्यप को निघण्टु का आदि प्रणेता बताया गया है—

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

(शान्ति 342।86-87)

हे भारत (अर्जुन)। वृष भगवान् धर्म का नाम है, निघण्टुपद व्याख्यान में मुझ (कृष्ण) को ही वृष कहते हैं, कपि, वराह या श्रेष्ठ धर्म का नाम है इसलिए कश्यप प्रजापति ने मुझे वृषाकपि नाम से स्तुत किया है।"

आदि काल में, (दक्षप्रजापति के समय) आद्यत्रेतायुग में, सर्वप्रथम प्रजापति कश्यप ने मूल श्रुति का संग्रह किया था, जिसे पुराणों में 'प्राजापत्यश्रुति कहा—

'प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः"

(वायु पुराण 61।75)

कश्यपकृत 'आद्यश्रुति' में 500499 मन्त्र थे, जैसा कि शौनक कृत बृहद्देवता में उल्लिखित है—

पूर्वात्पूर्वाः सहस्रस्य सूक्तानामेकमृग्यसाम्।
जातवेदस इत्याद्यं कश्यपार्षस्य शुश्रुम॥
ऋचस्तु पञ्चलक्षाः स्युः सैकोनशतपञ्चकम्॥

(बृहद्देवता अ. 3)

अतः 'आद्यश्रुति' के प्रवर्तक प्रजापति कश्यप ने सर्वप्रथम 'निघण्टु' कोश का निर्माण किया था, जिसमें 'वृषाकपि' पद भी था।

परन्तु उपलब्ध निघण्टु किस आचार्य की कृति है यह निर्णय नहीं किया जा सकता। सम्भवतः प्रत्येक निरुक्तकार अपने स्वतन्त्र निघण्टु का सङ्कलन करता था अतः और पुनः उसकी व्याख्या करता था पञ्चाध्यायात्मक निघण्टु यास्काचार्य की ही स्वतन्त्र कृति है।

निघण्टु के विशिष्ट पदों का संग्रह आगे एक पृथक् अध्याय में किया जायेगा।

यास्क ने व्याख्येय निघण्टु को 'समाम्नाय' कहा है—
'तमिमं समाम्नायं निघण्टव 'इत्याचक्षते।'

(नि. 1।1)।

आचार्य पं. भगवद्दत्त ने यास्क द्वारा निघण्टु के त्रिविध निर्वचन के आधार पर माना है कि वैदिक निघण्टु तीन प्रकार के थे—प्रथम प्रकार के निघण्टुओं में निगमों (मन्त्रों) का संग्रह था, यास्क के नैगम काण्ड में ये उद्धृत हैं। द्वितीय प्रकार निघण्टुओं में केवल पदों का संकलन था, यास्क के नैघण्टुक काण्ड में ऐसे पदों का व्याख्यान है। तृतीय प्रकार के निघण्टुओं में मन्त्रों के कठिन पदों का संकलन था।

देवराज यज्वा कृत निघण्टुभाष्य—इस समय निघण्टु का स्वतन्त्रभाष्य केवल देवराज यज्वा का मिलता है, इससे पूर्व निश्चय ही अनेक आचार्यों ने निघण्टु व्याख्यायें लिखी थी, इनमें स्कन्द स्वामी का भाष्य अत्यन्त प्रख्यात था जो अभी तक अनुपलब्ध है। देवराज यज्वा अत्यन्त अर्वाचीन आचार्य था। इसका समय 13 या 14 वीं शती था, क्योंकि इसने अपने ग्रन्थ में भोजादि के उद्धरण दिये हैं।

दुर्गाचार्यकृत निरुक्तवृत्ति—पहिले पाश्चात्य लेखकों और उनके अनुयायी भारतीय लेखकों ने दुर्ग का समय 13 या 14 शती माना था। परन्तु पं० भगवद्दत्त के प्रमाणों के आधार पर डा० लक्ष्मणस्वरूप ने दुर्ग का समय प्रथम ई. शती माना—'Durga can thus be approximately assig-

ned to the first Century A. D. (com of Skand and Maheshwar on Nirukta vol III P 1∘1)

अतः दुर्गाचार्य प्रथम शती से पूर्व के आचार्य थे कुछ लोग अज्ञान या अध्ययन की कमी के कारण अभी भी दुर्ग को छठी शती का व्यक्ति मानते हैं। यथा श्री वाचस्पति गैरोला (द्र. संस्कृतसाहित्य का इतिहास)।

दुर्गवृत्ति निरुक्त पर एक प्रौढ़ एवं विस्तृत व्याख्या है, इसमें उच्चविद्या एवं उज्ज्वल ज्ञान का प्रकाशन हुआ है।

निरुक्त के अध्याय और विषय—सर्वप्रथम निरुक्त तीन काण्डों में विभक्त है—(1) नैघण्टुककाण्ड (2) नैगमकाण्ड और (3) दैवतकाण्ड। इनमें क्रमशः 3, 3 और 6 अध्याय हैं, पूर्व और उत्तर छः छः अध्यायों को पूर्वषट्क और उत्तर षट्क कहते हैं। अन्तिम दो अध्याय परिशिष्ट कहलाते हैं। अतः निरुक्त में कुल 14 अध्याय हैं।

नैघण्टुक काण्ड में 'गौ' से लेकर 'अपारे' तक 1341 पदों की व्याख्या है, नैगमकाण्ड में 'जहा' से 'ऋचीसम्' तक 278 पदों की व्याख्या है, तृतीय दैवतकाण्ड में 'अग्नि' से 'देवपत्न्यः' तक 151 पदों की व्याख्या है।

निरुक्त के त्रयोदश और चतुर्दश अध्याय परिशिष्ट हैं। कुछ विद्वान् केवल द्वादश अध्यायों को यास्क की मूलकृति मानते थे—

'द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे' (सायण, ऋग्वेदभाष्य प्रारम्भ)।

परन्तु सायण परिशिष्टों को भी यास्क की रचना मानता था—तथा च यास्कः। शुक्रातिरेके पुमान् भवति। शोणितातिरेके स्त्री भवति, (ताण्डय ब्राह्मण भा 3।8।3)।

आचार्य विज्ञानेश्वर मिताक्षरा टीका (3।83) में निघण्टु सहित निरुक्त के 18 अध्यायों को यास्क की रचना मानता था—निरुक्तस्याऽष्टादशेऽभिधानात्,। कुमारिलभट्ट वररुचि आदि प्राचीन सभी आचार्य परिशिष्ट को यास्क की कृति मानते थे।

निरुक्त के निर्वचन—व्युत्पत्ति में किसी शब्द का मूल धात्वादि प्रत्ययादि-पूर्वक स्वर वर्णमात्रादि भेद से अर्थ प्रकाशन करना निर्वचन कहलाता है, अतः निर्वचन और व्युत्पत्ति में पर्याप्त अन्तर है।

महर्षि यास्क के निर्वचन प्राचीनविद्या और परम्परा के अनुरूप अत्यन्त वैज्ञानिक है, अनेक पाश्चात्य और भारतीय लेखकों ने यास्क की भाषा वैज्ञानिक को यथातथ्य नहीं जाना है, इसीलिए श्री सिद्धेश्वर वर्मा जैसे पाश्चात्यानुगामी भारतीय, यास्क के निर्वचनों को अप्राकृतिक, बर्बर, (आदिम) एवं अस्पष्ट आदि कहते हैं। यह सर्वथा भ्रष्ट अवैज्ञानिक और कापथगामी विद्वत्पद्धति है।

अध्याय द्वितीय

यास्ककालीन भाषा और नैरुक्त सिद्धान्त

इस पुस्तक में भाषाशास्त्र या भाषाविज्ञान का वर्णन नहीं करता हूँ, क्योंकि यह शुद्ध भाषाविज्ञान की पुस्तक नहीं है, परन्तु यास्कीय निरुक्त का प्रतिभाषा (वेदवाक्) और भाषा शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इस अध्याय में अतिसंक्षेप में यास्कसङ्केतित भाषा सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे।

भाषा की उत्पत्ति—आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने भाषोत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त कल्पित किये हैं, यहाँ पर उनका सङ्केत मात्र भी अभीष्ट नहीं है। पं० भगवद्दत्त ने 'भाषा का इतिहास' एवं अन्य ग्रन्थों में तथा पं. रघुनन्दन शर्मा ने 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रन्थ में भाषोत्पत्ति सम्बन्धी भारतीय सिद्धान्त का वर्णन किया है, तदनुसार भाषा अनादि और शाश्वत (सनातन) है, यह नित्यवाक् स्वयम्भू से उत्पन्न हुई, स्वयम्भू का अर्थ है प्रकृति (अमानुषी), दैविक शक्तियों के द्वारा भाषा स्वयं ही उत्पन्न हुई, स्वयम्भू शब्द का यही अर्थ है जो वस्तु स्वयं या प्रकृति से उत्पन्न हो वही स्वयम्भू या प्रकृति है, 'कुदरत शब्द' प्रकृति शब्द का ही अपभ्रष्ट रूप है, अंग्रेजी शब्द नेचर (Nature) भी 'कृञ्' धातु से बना है जिस प्रकार culture शब्द मूल भी 'कृञ्' धातु है। यही तथ्य निम्न मन्त्रों और श्लोकों में कहा गया है कि भाषा स्वयम्भू या प्रकृत है—

देवी वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।

ऋग्वेद 8।100।11)

ये देव भौतिक प्राण, रश्मि, विद्युत् आदि पदार्थ हैं, ऋषि और पितर भी देवों के साथ ही उत्पन्न हुये । प्राकृतिक शक्तियों की ही संज्ञा देव या आप: थी—'आप एवेदमग्र आसुः । ता आप सत्यमसृजन्त । सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम् प्रजापतिर्देवान् । (बृ० उ० 5।5।1) ।

प्रजापतिः या वाचस्पति (स्वयम्भू प्रकृति) ने मन से वाक् उत्पन्न की—'मनसा वाचमक्त (ऋ. 10।7।112) सांख्यसिद्धान्तानुसार ही प्रकृति से अहंकार और मन की उत्पत्ति हुई । मानसिक संकल्प से ही समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है ।

इसी वेदोक्तसिद्धान्त को महाभारत (शा० 231) में इस प्रकार कहा है—'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।' भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ग्रन्थ में शब्दतत्व को ही अक्षर और ब्रह्म कहा है—'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्' कुलपति शौनक ने बृहद्देवता (4।113) में देवीवाक् को ब्राह्मी, सौरी और सरर्परी कहा है—

तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं सरर्परीम् । प्रकृति में उत्पन्न या वाक् चार प्रकार की थी ।

चत्वारि वाक् परिमितापदानि (ऋग्वेद) इनमें चतुर्थीवाक् पशु (मनुष्यों) के हृदय में प्रविष्ट हुई—सा वाग् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् । पशुषु तुरीयम् ।

अतिवाक्—प्रारम्भ में अतिवाक् की उत्पत्ति हुई जिसका एकांश वेदवाक् में मिलता है, मूल प्राचीन अतिवाक् का विस्तृतरूप आज कोई भी नहीं जान सकता निघण्टु में उसका निदर्शन मात्र मिलता है । उदाहरणार्थ निघण्टु में एक-एक शब्द के सौ से अधिक पर्यायवाची पद मिलते है यथा वहाँ वाक् का एक पर्याय 'गल्दा है, जिसका योरोपीय भाषाओं या अंग्रेजी में एक मात्र Language शब्द मिलता, है, जो 'गल्दा' का ही अपभ्रंशरूप है, इसी प्रकार 'कर्म' का पर्याय निघण्टु में 'कर्वर' है जिसका अंग्रेजी में 'वर्क' या 'वर्वर'

(Worker) रूप हो गया। अतः अतिभाषा में एक एक वस्तु या पदार्थ के अनेक पर्यायवाची थे, अन्य उत्तरकालीन भाषाओं में उसका एक-एक ही रूप शेष रह गया यथा अंग्रेजी में सूर्य और चन्द्रमा के लिए सन् (Sun) और मून (Moon) शब्द क्रमशः मिलते हैं, इसी अद्वितीय ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् (1।1।2) में मिलता है कि पृथिवीनिवासी(मनुष्यों) पञ्चजनों (मनुष्यों) ने अतिभाषा का कौन सा पर्याय ग्रहण किया—'हय इति देवान्, अर्वा इत्यसुरान्, वाजीति गन्धर्वान्, अश्व इति मनुष्यान् ।' बृहदारण्यक के इस तथ्य की पुष्टि संस्कृत और असंस्कृत भाषाओं के अध्ययन से होती है कि संस्कृततेतर भाषाओं में एक पदार्थ के लिए द्वितीय पर्याय ढूढ़ने से भी नहीं मिलता।

मानुषीवाक् या लोकभाषा—प्राचीनतमकाल में आर्य (सज्जन) और विद्वान् (ब्राह्मण) ऋषि आदि दो प्रकार की भाषा बोलते थे दैवी और मानुषी वाक्। स्वयं यास्कचार्य ने किसी ब्राह्मणग्रन्थ से उद्धृत किया है कि ब्राह्मण (विद्वान्) दैवी और मानुषी वाक् बोलता है—'तस्मात् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति। या च देवानां या च मनुष्याणाम्, (निरुक्त 13।8)।

अन्यत्र भी लिखा मिलता है—'तस्माद् ब्राह्मण उभेवाचौ वदति दैवीं मानुषीं च।' (काठक सं० 14।5)। मानुषीवाक् की लोकभाषा में शब्दराशि वही थी जो अतिभाषा या वेदवाक् में थी, केवल वह संकुचित थी तथा शब्दानुपूर्वी में अन्तर था। इसी तथ्य को भरतमुनि (नाट्यशास्त्र 17।18।29) और पतञ्जलि ने लिखा है कि यह मानुषी लोकभाषा सप्तद्वीपा वसुमती (पृथिवी) पर फैल गई—

अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्।
संस्कारपाठ्यसंयुक्ता सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता ॥

'सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः (महाभाष्य)। लोकभाषा या मानुषीवाक् का संस्कृत नाम अति प्राचीन था। व्याकणसम्मत शुद्धभाषा की संज्ञा ही संस्कृत थी, इसके लिये संस्कृत नाम का प्राचीनतम उल्लेख वाल्मीकि रामायण में मिलता है—'वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।' (सुन्दरकाण्ड 30।17)

प्राचीनकाल में इसको लोकभाषा या लौकिकी या मानुषीवाक् ही अधिकतर कहा जाता था। यथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र में—'लौकिक्या वाचा व्यावर्तते ब्रह्म' (1।13।6।8)।

'मानुषाद् दैव्यमुपैमि (आ० श्रौतसूत्र 5 । 2 । 8 । 1) इसी को यास्क और पाणिनि 'भाषा' कहते थे।

यास्क ने इसी लौकिक संस्कृत या मानुषीवाक् को ही 'व्यावहारिकी' भाषा कहा है—'ऋचो यजूंषि सामानि, चतुर्थी व्यवहारिकी' (नि० 13 । 9)। पतञ्जलि ने बारम्बार लोकप्रयुक्त भाषा के व्यवहारकाल का उल्लेख किया है—'चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति···व्यवहारकालेनेति' 'शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।'

दैत्यभाषा या म्लेच्छभाषा की उत्पत्ति और विस्तार का इतिहास—इस समय भारत और योरोपीय भाषाओं की शब्दराशि में सर्वाधिक साम्य मिलता है, यद्यपि विश्व की समस्त भाषाओं में एक ही प्रतिभाषा (वेदभाषा) से समुद्भूत हुई हैं, परन्तु सर्वाधिक साम्य योरोपीय और भारतीय भाषाओं में मिलता है, इस कारण उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में पाश्चात्यों ने अनेक कल्पनायें कीं कि भारतीय आर्य और योरोपीय जातियाँ कभी एक साथ मध्य-एशिया या योरोप के किसी स्थान में रहती थीं और उनकी कोई काल्पनिक इन्डोयोरोपियन भाषा थी, योरोप या मध्यएशिया से ही आर्य भारतवर्ष में ईसा से लगभग 1500 वर्ष भारत में प्रविष्ट हुये, इस प्रकार की विपुल कल्पनायें भाषासाम्य के आधार पर कल्पित की गईं।

परन्तु ऐतिहासिक तथ्य इसके ठीक विपरीत है। इन्डोयोरोपियन नाम की भाषा न तो पहिले कभी थी और न आज ही है, अतिभाषा के अस्तित्व से इस समस्त प्रश्न का स्पष्ट उत्तर मिल जाता है। भारतीय वाङ्मय (वैदिक और पौराणिकग्रन्थों) में इस ऐतिहासिक तथ्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि आर्य और दस्यु (असुर-दैत्य-दानव) कबतक भारतवर्ष में साथ-साथ रहे और असुर कब भारतवर्ष से निकाले गये। वास्तव में सर्वप्रथम सम्पूर्ण पृथिवी पर असुरों का साम्राज्य था—ब्राह्मणग्रन्थों और इतिहासपुराणों में लिखा है—

'असुराणां वा इयं पृथिवी आसीत्,; (काठक सं०)

दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विनः ।
तेषामियं वसुमती पुरासीत् सवनार्णवा ॥

(रामायण 3 । 14 । 15)

'कश्यपपत्नी दिति ने यशस्वी दैत्यसंज्ञक—पुत्रों को उत्पन्न किया, प्राचीन काल में वन पर्वत और समुद्र सहित सम्पूर्ण पृथिवी पर उनका अधिकार था ।" यह घटना पृथुवैन्य से अनेक शती पश्चात् परन्तु वैवस्वत मनु से अनेक शती पूर्व की है । हिरण्यकशिपु दैत्यों का प्रमुख सम्राट् था । अनेक दैत्य और दानव इसके साथी थे, यथा बल्वी, मर्क, शण्ड, वृत्र इत्यादि । हिरण्यकशिपु के वंश में प्रह्लाद, विरोचन, बलि और बाण प्रमुख दैत्य हुये ।

देवासुरयुग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी वामन विष्णु आदित्य (अदितिपुत्र) द्वारा बलि का राज्य केवल पाताल तक सीमित कर देना, इसी समय ये असुर भारतवर्ष से निष्कासित कर दिये गये और भारतवर्ष छोड़कर पाताल में ही रहने लगे, इसीलिए पातालवासी (योरोप, अफ्रीका) असुरों और भारतवर्ष की प्राचीन भाषाओं में इतना अधिक साम्य है । जर्मन फ्रेंच, अंग्रेजी आदि भाषाओं की मूल दैत्य भाषा अतिभाषा संस्कृत का ही विकृतरूप थी, यह मूल से लगभग सोलह सहस्र वर्ष पूर्व पृथक् हुई । अंग्रेजी भाषा के अनेक पद वैदिक भाषा से अधिक साम्य रखते हैं बजाय लौकिक संस्कृत के, यथा सप्तथ, पञ्चथ रूप वेद में ही मिलते हैं, लौकिक संस्कृत में नहीं मिलते, इनके विकृत क्रमशः सेवेन्थ और फिफ्थ हैं । अन्य नाम आख्यात, उपसर्ग, प्रत्ययादि में वैदिक रूपों की योरोपीय भाषाओं से महती सामानता है, अधिक उदाहरण यहाँ नहीं दिये जाते, क्योंकि वह इस ग्रन्थ के प्रसङ्ग के न तो अनुरूप है न अभीष्ट, योरोप के देशनामों से ही इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि होती है कि देवासुर युग के अन्त अर्थात् असुरेन्द्र बलि के समय (16000 वि० पू०) योरोप और अफ्रीका के अनेक देश दैत्यों, दानवों और असुरों ने उपनिविष्ट किये । यहाँ हम कालगणना के विस्तार में नहीं जाते, भारतीय पुराणों के अनुसार दक्ष, कश्यप, हिरण्यकशिपु, इन्द्र, बलि, विष्णु इत्यादि का समय ईसा से लगभग

14000 वर्ष से 17000 वर्ष पूर्व था। कृत, त्रेता द्वापर और कलियुग का मान 12000 वर्ष था, इससे भी यही सिद्ध होता है। हम यहाँ भारतीय प्रमाणों को उद्धृत नहीं करते, केवल प्राचीन दो योरोपीय लेखकों के प्रमाण से यही पुष्ट करते हैं—हेरोडोटस ने लिखा है 'The Greeks regard Hercules Baccus and pan as the youngest of the godsयूनानियों के अनुसार विष्णु वृत्र और बाण असुरों में सर्वाधिक कम आयु के (उत्तरकालीन) थे। मिश्र देश की गणना के अधार पर हेराडोटस ने लिखा—'Seventeen thousand years (from the birth of Hercules) before the reign of Amasis the Twelve gods were, they (Egyptians) affirm. (Herodotusp. 136

'मिश्री गणना के अनुसार विष्णु के जन्म से अमेसिस के राज्य से पूर्व तक 17000 वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

पाताल योरोप और अफ्रीका के भूभागों (देशों) का ही नाम था क्योंकि अफ्रीका और यूरोप के अनेक देशों के नाम तलशब्दान्त हैं, यथा मिश्रदेश में तल अमराना, तल-अबीब इत्यादि नाम के अनेक स्थान मिलते हैं, तुर्की का अनातोलिया भी अतल शब्द का अपभ्रंश है। अफ्रीका के 'लीबिया' देश के नाम में तल या प्रह्लाद की स्मृति विद्यमान है। पुराणों में सात पातालों (अतल, सुतल, वितल, गभस्तल, महातल, तलातल, और रसातल) के नाम हैं। इन सप्तपातालों में असुरों का राज्य था। तलातल या गभस्तल में राक्षसेन्द्र सुमाली का राज्य था, यह अफ्रीका का सोमालीलैण्ड है। रसातल रसानदी के तट प्रदेश का नाम था, जहाँ असुर पणियों का राज्य था—

असुराः पणयो नाम रसापारनिवासिनः (बृहद्देवता) शाल्मलिद्वीप में मयासुर का राज्य था। कालनेमि के वंशज कालेय या कालखञ्ज दैत्य योरोप के केल्ट (Kelt) थे। इन्होंने ही काल्डिया देश बसाया। असीरिया में 'असुर' शब्द की स्मृति विद्यमान है। असुर बल के मन्दिर बैबीलोनिया में थे। ईरान का मीडिया मद्रदेश था। वे शाल्व असुरों के वंशज थे। बाणासुर का राज्य ईराक में था, जहाँ कृष्ण ने आक्रमण किया था।

डच (Dutch) शब्द दैत्य का ही अपभ्रंश है, प्राचीन जर्मनी का नाम

डीट्शलैण्ड था, एंग्लोसैक्सन भाषा में इसे थियोड (theod) कहते हैं ये सभी शब्द 'दैत्य' शब्द के अपभ्रंश हैं। डेनमार्क (Denmark) दानव मर्क ने बसाया था, जो असुरों का प्रसिद्ध पुरोहित था, इसी के भ्राता षण्ड दानव के नाम से स्केण्डेनेविया (Scandinavia) देश प्रसिद्ध हुआ, निश्चय ही ये असुर या इनके वंशज बलि के साथ विष्णु द्वारा पराभूत होकर योरोप में बस गये।

'दैत्य' शब्द का एक रूप है टीटन (titon) योरोप के इतिहास में इस जाति का महत्व विदित ही है। दनु या दनायु के नाम से योरोप की डेन्यूब (Denube) नदी प्रसिद्ध हुई। ग्रीकों के डायनोसिस (Dionysius) असुर की स्मृति में दनु को देखा जा सकता है, जो वृत्र का ही एक नाम था क्योंकि दनु और दनायु ने इसका पालन किया था। स्वीडन (Sweden) देश के नाम में श्वेतदानव की स्मृति है। कालकेय दानव के वंशज केल्ट कहलाये। आस्ट्रिया का एक प्राचीन नाम नीकिम (Nccmic) था जो निकुम्भदानव का राज्य था। गाथ असुर के नाम से योरोप में गाथिक जाति प्रसिद्ध हुई।

इसी प्रकार गन्धर्व, नाग, पितर आदि अन्य पञ्चजन जातियों का सम्बन्ध ईरान, ईराक और योरोप-अफ्रीका आदि से भाषा के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है, विस्तारभय से इन सब की संक्षिप्त चर्चा भी नहीं करेंगे।

संस्कृतव्याकरणवेत्ता जानते हैं कि देशों के नाम किस कारण से पड़ते हैं, भारत में काशी, विदेह, पाञ्चाल आदि नाम राजाओं और उनके वंशजों के नाम पर पड़े, इसी प्रकार दनु, निकुम्भ, गाथ, मर्क, षण्ड आदि दानवों ने योरोप के देश बसाये और उन्हीं के नाम से ये देश प्रसिद्ध हुए।

यह विषय कुछ विस्तार से यहां इसलिए लिखा गया, जिससे अनेक ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक भ्रमों का निवारण हो जाता है, प्रमुख रूप से ये तथ्य सिद्ध होते हैं—

(1) पुराणोल्लिखित देवासुर इतिहास सत्य है। आर्यसम्बन्धिकल्पना भ्रम है।

(2) पूर्वकाल में समस्त पृथिवी पर असुर साम्राज्य था।

(3) बलिकाल में असुरों का सम्बन्ध भारत से समाप्तप्राय: हो गया, अनेक असुरों ने योरोप में उपनिवेश बसाये।

(4) इण्डोयोरोपियन नाम की कोई भाषा नहीं थी।

(5) अतिभाषा का ही विस्तार पृथिवी पर हुआ, उसी का विकृतरूप दैत्य भाषा (योरोपियनभाषा) थी।

(6) देवों और असुरों का राज्य विभाजन (अन्तिम) बलि के समय लग-भग आज से 18000 वर्ष पूर्व हुआ। उसी समय योरोप बसा।

दैत्यभाषा और म्लेच्छभाषा के सम्बन्ध में प्राचीनमत निम्नलिखित उद्धरणों में द्रष्टव्य हैं—

(1) नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभि:। (महाभारत, भीष्मपर्व) 'आर्य (सुसंस्कृत या शिक्षित) पुरुष अपभ्रंश, अशुद्ध या विकृतभाषा नहीं बोलते।'

(2) तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्त: पराबभूवु:। (शतपथब्राह्मण 3। 2। 1। 23)।

'अपभ्रष्ट भाषा उच्चारण के कारण हे अलव-हेअलव। ऐसा करते हुए असुर पराजित हुय।'

(3) स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेद् असुर्या हैषा वाक्।' (शत० 3। 2। 1 24)।

'वह म्लेच्छ (अशुद्धभाषाभाषी) है, ब्राह्मण अशुद्ध भाषा न बोले यह आसुरी भाषा होती है।

(4) म्लेच्छो ह वा एवं यदपशब्द: (महाभाष्य) अपशब्दोच्चारण ही म्लेच्छ है।"

(5) यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्त: सा वै राक्षसी वाक्' (ऐतरेयब्राह्मण)।

'उन्मत्त और दृप्त राक्षसीवाक् बोलता है।'

(6) ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयो:, (उत्तररामचरित) 'ऋषि-गण उन्मत्त और दृप्त की भाषा को राक्षसीवाक् कहते हैं।

(7) असुर्या वै वाग् अदेवजुष्टा (ऐ. ब्रा. 615)

'विद्वान् आसुरीवाक् नहीं बोलते।'

(8) 'न म्लेच्छभाषां शिक्षेत। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। (भारद्वाज गृह्यसूत्र)।

'म्लेच्छ भाषा न सीखे। अपशब्द ही म्लेच्छ है।

(9) तैः पुनरसुरैर्यज्ञे कर्मण्यपभाषितम् (महाभाष्य)

'यज्ञ कर्म में असुरों ने अपभाषण किया।'

(10) पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।

म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ (मनुस्मृति)

10। 44, 45

'पौंड्रक, चोड्र, द्रविड काम्बोज, यवन, शक आदि सभी भले ही आर्यभाषा बोलें या म्लेच्छभाषा, सभी दस्यु हैं।'

पदविभागसिद्धान्त—यास्काचार्य उसके पूर्व भारतीय वैयाकरण तथा नैरुक्त आचार्य भाषा के शब्दों या पदों को चार विभागों में बांटते थे—'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। (निरुक्त 1। 1)।' पद चार प्रकार के होते हैं—नाम (संज्ञा) आख्यात (धातु—क्रिया), उपसर्ग और निपात।

पदलक्षण—चार प्रकार के पदों के व्याख्यान से पूर्व 'पद' के स्वरूप को समझना चाहिए। प्राचीन शब्दाचार्यों ने 'पद' की अनेक व्याख्यायें, परिभाषायें या लक्षण बताये हैं—

'अर्थः पदम्' (वाजसनेयप्रातिशाख्य 3। 2)।

अर्थवान् शब्द (ध्वनि) की पदसंज्ञा होती है।

पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा कही है—

'सुप्तिङन्तं पदम्' (अष्टाध्यायी 1। 4। 14)। इसी प्रकार अन्य आचार्य विभक्तियुक्त शब्द की पदसंज्ञा बतलाते हैं—विभक्त्यन्तं पदम् (आपिशलि, भरत, गौतम)। वात्स्यायन के मत में उपसर्गों और निपातों की पद संज्ञा नहीं होती—'उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसंज्ञा' (न्यायभाष्य 2। 2 57)

उनके मत में सुबन्त और तिङन्त की ही पद संज्ञा होती है। पद भी वर्णों के समूह से मिलकर बनता है—

वर्णसंघातजं पदम्, (बृहद्देवता 2।117)।

वर्णसंघातः पदम् (अर्थशास्त्र अ० 31)।

अक्षरसमुदायः पदम् अक्षरं वा, (वाज० प्रातिशाख्य)।

'अक्षरसमुदाय पद है और क्वचित् एकाक्षर भी पद होता है।

पद का ही अपर नामधेय शब्द है—

व्यत्ययेन च वर्णानां परिवादकृतो हि यः।

स शब्द इति विज्ञेयस्तन्निपातोऽर्थ उच्यते ॥

'वर्णों के क्रम परिवर्तन से जो उच्चारणयोग्य सार्थक रूप बनता है वही शब्द है उसका निपात जिस पदार्थ में होता है वह अर्थ कहलाता है।'

सार्थक और साधु शब्द की ही पदसंज्ञा होती है इसके विपरीत अपशब्द अपभ्रंश या म्लेच्छ या निरर्थक है। असाधुपद के सम्बन्ध में पतंजलि का व्याख्यान द्रष्टव्य है—

"शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्, केषां शब्दानां। लौकिकानां वैदिकानां च। लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति वैदिकाः खल्वपि शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे, अग्निमीळे पुरोहितम् अग्न आयाहि वीतये।

"व्याकरण में किन शब्दों का अनुशासन होगा? लौकिक और वैदिक इन दोनों प्रकार के शब्दों का. यथा लौकिक शब्द गौः, अश्वः पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग और ब्राह्मण, वैदिक शन्नो इत्यादि।

'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द उच्यते तस्माद् ध्वनिः शब्द।" लोक में जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है वही ध्वनि शब्द हैं।

'म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः' अपशब्द ही म्लेच्छ या असाधु पद होता है। इसी प्रकार दुष्ट शब्द का उच्चारण निरर्थक या अनर्थक होता है—

दुष्टः शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।

"स्वर और वर्ण से हीन अशुद्ध उच्चारण अपने अभीष्ट विवक्षित अर्थ को नहीं कहता । यह वाणीरूप वज्र यजमान को मार देता है जिस प्रकार इन्द्र शत्रु-वृत्रासुर स्वरापराध के कारण मारा गया ।"

एक-एक शब्द के अपभ्रंश या असाधु शब्द अनेक होते हैं जैसे गौ शब्द के गावी गोणी गोता गोपोतलिका इसी प्रकार काउ (Cow) गाय इत्यादि अंग्रेजी या हिन्दी में अपभ्रंश या म्लेच्छ शब्द हैं, शुद्ध या साधु पद केवल गौ है ।

शुद्ध शब्दप्रयोग की अतीव महिमा आचार्यों ने गाई है यास्क ने इस सम्बन्ध में वेदमन्त्रों को उद्धृत किया है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत चलनी से सत्तुये के समान विद्वान् मन से वाणी (भाषा) को शुद्ध करते हैं ।"

अधेन्वा चरति माययैव वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् । अकल्याणकारी माया का वह आचरण करता है जो फल और पुष्प (शब्दार्थ) हीन वाक् का प्रयोग करता है ।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत
त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।

'कोई मनुष्य देखकर भी भाषा को नहीं देख सकता और कोई सुनकर भी नहीं सुनता ।

लिंग, वचन, काल, और कारक आदि का अन्यथा प्रयोग अपशब्द या म्लेच्छ कहलाता है ।

शब्द की मूल प्रकृति ही साधु या शुद्ध शब्द है और अन्यथा प्रयोग ही अपशब्द है। यथा अंग्रेजी में स्टेशन शब्द साधु है, परन्तु इसका अशुद्धरूप या म्लेच्छरूप है, परन्तु इसकी मूल प्रकृति संस्कृत का 'स्थान' शब्द है ।

विद्वान् (शिक्षित) को म्लेच्छ या अपशब्द नहीं बोलना चाहिए ।

नाम (संज्ञा) पद—सत्व या द्रव्य (वस्तु) का अभिधान नाम या संज्ञा

पद होते हैं, जैसे गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती। इसी को पाणिनि सुबन्त पद कहता है।

आख्यात—क्रिया (धातु) की संज्ञा आख्यात है जैसे करोति अस्ति, व्रजति, शेते अगच्छत् इत्यादि क्रियायें प्रसिद्ध हैं। व्रज्या, गमन, पचन इत्यादि भाव वाचक संज्ञायें भी आख्यात से उत्पन्न और आख्यातवत् हैं।

नित्य शब्द—आचार्य यास्क ने औदुम्बरायणाचार्य के मत को यहाँ उद्धृत किया है—"इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।" (निरुक्त 1।1)

औदुम्बरायण के मत से शब्द या वचन नित्य है और उसका अर्थ के साथ सम्बन्ध भी नित्य है। पाणिनि से पूर्ववर्ती अथवा समकालीन शब्दाचार्य व्याडि ने संग्रह नामक लक्ष श्लोकात्मकग्रन्थ में शब्द के नित्यानित्यत्व पर विस्तार से विचार किया था, उनका मत आचार्य पतञ्जलि ने संक्षेप में उल्लिखित किया है—"किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित्कार्यः। संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्। नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति।······तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः उभयथा लक्षणं प्रवर्त्यमिति।"

"शब्द नित्य है अथवा अनित्य? संग्रह ग्रन्थ में इस पर प्रमुख रूप से विचार किया गया है। वहाँ दोष और प्रयोजन कहे गये हैं। वहाँ निर्णय किया है कि शब्द नित्य भी और अनित्य भी है। पाणिनि आचार्य के मत में शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। सिद्धशब्द नित्य का पर्यायवाची है शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है—व्याडि का मत व्याकरणग्रन्थों में उद्धृत मिलता है—

सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्॥

'लोक और वेद में शब्दार्थों के सम्बन्ध का कोई पुरुष प्रवर्तक या कर्ता नहीं है। शब्दों द्वारा शब्दों का सम्बन्ध कैसे स्थापित होगा। इसमें अनवस्था दोष होगा।

जैमिनि भी शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानता था, परन्तु अक्षपाद गौतम के मत में शब्दार्थ सम्बन्ध सामयिक या साङ्केतिक है।

शब्द को इन्द्रियनित्य मानने पर पदों का चतुष्टय विभाग उत्पन्न नहीं होता एवं अयुगपत् उत्पन्न शब्दों का एक दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्ध भी नहीं बनता और शब्द शास्त्रकृत योग भी नहीं बनता, अतः यास्काचार्य के मत में व्यवहारकाल में शब्द अनित्य और व्याप्तिमान् है और अत्यन्त सूक्ष्म होने से नाम और आख्यातादि की संज्ञायें लोक में प्रवृत्त हुई। क्योंकि इनके बिना लोक व्यवहार उत्पन्न नहीं होता।

यास्क के मत में पुरुषविद्या अनित्य है और वेदमन्त्रपदानुपूर्वी नित्य है—'पुरुष विद्या नित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।'

कुछ विद्वानों के मत में 'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणार्मः' का अर्थ है 'शब्द जबतक इन्द्रिय में स्थित है, अर्थात् उच्चार्यमाण काल में ही नित्य है, इससे पूर्व या पश्चात् उसका अस्तित्व नहीं, वस्तुतः अनित्य है, अतः इस दृष्टि से पदचतुष्टय विभाग सिद्धान्त अलीक सिद्ध होता है, तदनुसार व्याकरण शास्त्रकृत धातुप्रत्ययविभागादि भी अनुचित हैं।

अन्य मत से 'प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या' सिद्धान्त के अनुसार समस्त पदों को परमात्मा से एक ही काल (युगपत्) में उत्पन्न मानकर उनको नित्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि के प्रमाण से व्याडि का मत पूर्व लिखा जा चुका है कि शब्द नित्य भी है और अनित्य भी। इस दृष्टि को ही मानकर यास्काचार्य ने लिखा है 'व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य' क्योंकि शब्द 'व्याप्तिमान्, है अतः पदविभाग उचित है शब्द नित्य है और अनित्य भी है। पद या शब्द की ध्वनि प्रत्यक्ष में तो क्षणिक ही है, किन्तु उसकी आकृति (जाति) नित्य है, वस्तुतः आधुनिकविज्ञान से ध्वनि भी नित्य है, वह शाश्वत है, वह कभी नष्ट नहीं होती।

भाषा के शब्द जीव जन्तु या वृक्ष की भांति नवीन रूप से उत्पन्न नहीं होते, वे शाश्वत और नित्य हैं तथा उनका अर्थ भी नित्य है, शब्दार्थसम्बन्ध भी नित्य है। अतः श्रूयमाण और उच्चार्यमाण अवस्था की दृष्टि से शब्द

या पद अनित्य है या इन्द्रियनित्य है। शब्दस्फोट, अर्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से शब्द नित्य है, वह नष्ट नहीं होता।

अतः औदुम्बरायण और यास्क के मत इस सम्बन्ध में विभिन्न थे जैसाकि भर्तृहरि ने औदुम्बरायण और वार्तांक्ष का मत लिखा है—

> क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्त्वप्रधानता।
> चत्वारि पदजातानि सर्वमेतद् विरुध्यते॥
> वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम्॥
> दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ॥
>
> (वाक्यपदीय 2।341-43)

'आख्यात क्रियाप्रधान होता है, सत्त्वप्रधान (द्रव्य प्रधान) नाम या संज्ञा है, पर चतुष्टयविभाग अनुपपन्न है क्योंकि शब्द इन्द्रिय (बुद्धि) में ही स्थित है, अर्थ लोकव्यवहार से ज्ञात होता है, अतः वार्ताक्ष और औदुम्बरायण के मत में पदविभागचतुष्टय अनुचित है।'

यास्क का मत लिखा जा चुका है कि वे पदचतुष्टय विभाग में पूर्ण विश्वास करते थे, श्रुति नित्य है 'छन्दांसि नित्यानि' इस सिद्धान्त को पतञ्जलि भी मानते थे, अतः यास्क, व्याडि, पाणिनि और पतञ्जलि जैसे भाषाशास्त्री पद को नित्य मानकर पदचतुष्टय सिद्धान्त को मानते थे।

भाव आख्यात और क्रियाविवेचन

शब्दोत्पत्ति :—वैदिक ग्रन्थों का मन्थन करके पं. भगवद्दत्त ने मूलध्वनियों (शब्दों) की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है "जब सृष्टि बन रही थी, उस समय विविध पदार्थों के अस्तित्व में आते समय अग्नि, वायु आदि देवों के से जो मूल ध्वनियाँ द्युलोक और अन्तरिक्ष आदि में उत्पन्न हुई, वे मूल शब्द थे। मानवसृष्टि के आरम्भ में तत्तदर्थ सम्बद्ध शब्दों को पूर्वसृष्टि में संचित योगशक्ति से ऋषियों ने प्राप्त किया और उनसे लोकभाषा चली। उदाहरण—ब्राह्मणग्रन्थ लिखते हैं कि पहिले हिरण्यगर्भ अथवा पुरुष अथवा प्रजापति अथवा महद्दण्ड बना। वह घोर अन्धकार में आपः में प्राकर्षण करता रहा।

कुछ काल अनन्तर महानात्मा और वायु के योग से उसके दो टुकड़े हो गये। इन टुकड़ों के होते समय 'भू:' की ध्वनि उत्पन्न हुई। इस ध्वनि के साथ भूमि उस महद्दण्ड से सर्वथा पृथक होकर अस्तित्व में आई। इसलिये भू का अर्थ सत्ता हुआ।''''''अतः भूः प्रथम धातु हुआ।" (भाषा का इतिहास पृ. 8-9)।

यह है 'भू' धातु की प्राथमिकता का संक्षिप्त इतिहास। इसी प्रकार स्वयम्भू ब्रह्माण्ड (प्रकृति) में अनेक मूल ध्वनियां उत्पन्न हुई, जिससे भाषा बनी।

पदों या नामों को धातुज और आख्यातज मानने का सिद्धान्त बहुत उत्तर-कालीन है, तथापि वेदमन्त्रों तक में धातुजनामसिद्धान्त का अस्तित्व मिलता है, वस्तुतः यह वैयाकरणों की मौलिक सूझबूझ के कारण ही शब्द धातुज माने गये। मूलरूप से प्रत्येक ध्वनि अपना स्वतन्त्र उत्पत्ति और अर्थ रखती थी। जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है कि प्रारम्भ में नाम और आख्यात सब पूर्ण पद मानकर पृथक्-पृथक् व्याख्यान किये जाते थे—"बृहस्पतिरिन्द्राय प्रति-पदोक्तां शब्दानां शब्दपरायणं प्रोवाच", (महाभाष्य 1।1।1)।

भावशब्द का अर्थ :—भाव शब्द भू धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बना है, भाव का अर्थ है क्रिया। भू धातु की प्राथमिकता का संकेत पूर्वपृष्ठ पर किया जा चुका है, भाव में सभी क्रियायें (धातुयें) आ जाती हैं, परन्तु आचार्य वार्ष्यायणि ने छः प्रकार के सांसारिक भाव (क्रियायें) निश्चित किये हैं—'षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽप-क्षीयते विनश्यतीति।" (निरुक्त 1।2)। "छः भाव विकार हैं—(1) जन्म (2) अस्तित्व (3) परिणाम (4) वृद्धि (5) क्षय और (6) विनाश इन्हीं को जायते आदि धातुओं से कहा गया है।

जायते=उत्पन्न होता है, यह पद क्रिया का पूर्व या आरम्भ कहता है, अस्ति क्रिया पदार्थ की विद्यमानता को कहती है, विपरिणमते परिवर्तन का सूचक है, शेष स्पष्ट ही है। संसार की सारी क्रियायें इन्हीं छः क्रियाओं के अन्तर्गत आ जाती हैं। मुख्य रूप से सत्ता (भू) और अस्ति (अस्तित्व) इन धातुओं से ही समस्त कार्य प्रकट होते हैं। एक तृतीय 'कृञ्' धातु भी इसी प्राधान्यता की श्रेणी में समाविष्ट होती है।

भावविकारों का उल्लेख वार्ष्यायणि के नाम से महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य (1।3।1) में किया है अतः यह षड्भावविकारसिद्धान्त भाषाविज्ञान का प्रसिद्ध और मान्य सिद्धान्त था।

यास्काचार्य ने इस प्रसङ्ग में एक जटिल या विवादग्रस्त पंक्ति लिखी है—

"भावप्रधानमाख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि।
तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः।" (निरुक्त 1।1)।

"क्रिया प्रधान आख्यात होता है। सत्त्व-द्रव्य प्रधान नाम होता है। जहाँ दोनों भाव प्रधान होते हैं (उपवाक्य में) आरम्भ से अन्त तक क्रियावाचक आख्यात होता है, यथा व्रजति, पचति इत्यादि और जहाँ मूर्तिमान् द्रव्य रूप भाव क्रिया को कहता है, वहाँ द्रव्य नाम द्वारा कहा जाता है जैसे व्रज्या, पक्ति (पचनकर्म)। तिङन्त पदों से पूर्वापरीभूत भाव को बताने वाले शब्द आख्यात हैं, वह भाव प्रधान होते हैं। यास्क के उपर्युक्त जटिल भाव की व्याख्या कुलपति शौनक ने बृहद्देवता में इस प्रकार की है—

क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीतभूत इवैक एव।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः।
क्रियाभिनिर्वृत्तवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात्।
संख्याविभक्त्यव्ययलिङ्गयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः॥
(1।44-45)

"अनेक क्रियाओं से सम्बद्ध पूर्व और अपररूप धारण करने पर भी एक (अर्थवाला) होते हुये यदि कोई शब्द क्रिया की निर्वृत्ति (सम्पन्नता) से सिद्ध है तो उसे आख्यात (क्रिया) शब्द कहते हैं। और जो भाव किसी क्रिया की निर्वृत्ति से उत्पन्न हो तथा कृदन्त शब्द से व्यक्त हो तथा संख्या (वचन), विभक्ति अव्यय और लिङ्ग से युक्त हो, उसे द्रव्य (नाम) समझना चाहिए।

यास्क ने आख्यात का उदाहरण व्रजति, पचति दिया है और द्रव्य (सत्व) का उदाहरण व्रज्या, पक्ति दिया है।

आख्यात साध्यावस्था और नाम, सिद्धावस्था है—वस्तुतः दोनों ही भाव हैं, केवल अवस्था का भेद है। तद्धित, समासादि भी नाम हैं।

आख्यातपदव्याख्यान—'ख्या' धातु (कथनार्थक) में आ उपसर्गपूर्वक त' (क्त) प्रत्यय लगाने से 'आख्यात' पद बना है पाणिनि के 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र में प्रातिपदिक शब्द नाम का बोधक और धातु (क्रिया) आख्यात का बोधक है। वाक्य में क्रिया (आख्यात) प्रधान होता है और शेष पद प्रायः गौण होते हैं। अतः तिङन्त पदकी आख्यातसंज्ञा है।

यास्क ने इस विषय में विभिन्न आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं, जिसके अनुसार प्रायः प्राचीन आचार्य सभी शब्दों को आख्यातज मानते थे, प्रमुखतः शाकटायनमत प्रसिद्ध था।

नाम आख्यातज : परस्पर दो विपरीत सिद्धान्त—यास्काचार्य ने प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में विस्तार से इस सिद्धान्त की विवेचना की है, विषय गौरव की दृष्टि से उस शास्त्रार्थ को यहाँ साररूप से सङ्कुलित करते हैं। तदनुसार आचार्य शाकटायन और दूसरे नैरुक्त आचार्य सभी नामों को आख्यातज या धातुज मानते थे। यास्क के अतिरिक्त आचार्य पतञ्जलि ने भी शाकटायन के इस मत का उल्लेख किया है—"नाम च धातुजमाह—निरुक्ते व्याकरणे च शकटस्य तोकम्"; (महाभाष्य 3।3।1)। यास्क ने लिखा है—'तत्र नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।" (निरुक्त 1।13)।

शाकटायन और अन्य नैरुक्तों का सिद्धान्त है कि सभी नाम आख्यातज और अन्य नैरुक्तों का सिद्धान्त है कि सभी नाम आख्यातज हैं। परन्तु गार्ग्य तथा अन्य कुछ वैयाकरण मानते हैं कि सभी नाम आख्यातज नहीं हैं, (कुछ नाम ही ऐसे होते हैं)। गौ, पुरुष, हस्ती, मनुष्य, नर, अग्नि आदि नाम निश्चय ही धातुज हैं जो स्वर, प्रकृति, प्रत्ययादि से निष्पन्न हैं। यह गार्ग्यादि का सिद्धान्त था। परन्तु, उनके मतों में यदि समस्त नाम आख्यातज हों तो कोई प्राणी या मनुष्य कोई विशिष्ट कार्य करे तो सभी को वैसा ही कहें, जैसे जो अध्वा (मार्ग) को व्याप्त (अश्नुवीत) करे यह प्रत्येक प्राणी अश्व कहलाये, जिस किसी को तोड़े (तुन्द्यात्) उसको तृण कहें।

वस्तुतः यह आक्षेप निरर्थक है, क्योंकि आदिकाल में अश्व, वृक्ष, नक्षत्र,

नर आदि शब्दों का प्रयोग उसी अर्थ में नहीं होता था जैसा आज होता है। वेद में अश्व पद का अर्थ केवल घोड़ा नहीं है, सूर्य, वायु आदि को भी अश्व कहा जाता था, अनेक राजाओं (यथा हर्यश्व, भाग्यश्व, युवनाश्व) के नाम से स्पष्ट है कि विशिष्ट गुणयुक्त मनुष्यों को भी अश्व कहते थे। इसी प्रकार वृक (फाड़नेवाला) नक्षत्र (न गिरने वाला), यम (संयमित करने वाला के अर्थ में) किसी भी सत्व को कहते थे। अतः प्रथम आक्षेप ("यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्वं तथाचक्षीरन्" (निरुक्त 1।13) निराधार है। किसी एक शब्द का विशिष्ट अर्थ में नियमन बहुत उत्तरकाल में हुआ, वैदिक प्रयोगों से यह सिद्ध है, श्री योगि अरविन्द, स्वामी दयानन्द, पं० भगवद्दत्त आदि का भी यही मत है।

गार्ग्यादि वैयाकरणों के अन्य आक्षेपों का भी यास्काचार्य ने युक्तियुक्तपूर्वक खण्डन किया है। कुछ पद प्रतीतार्थक होते हैं और कुछ अप्रतीतार्थक यथा व्रततिः (बेल), दमूनाः (अग्नि), जाट्यः (जटावाला), और आट्णार (पर्यटक) इत्यादि। यह तो अध्येता का दोष है कि उसे कुछ पद अप्रतीतार्थक दिखाई—पड़ें, यथा आट्णार। यास्क ने ठीक ही लिखा है कि 'नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति।' 'यह स्थाणु (ठूँठ) का दोष नहीं है कि उसे अन्धा नहीं देख पाता, इस सम्बन्ध में पं० भगवद्दत्त ने ब्लूमफील्ड के अज्ञान का उदाहरण दिया है—Proper names of barbaric appearance and unknown relationships अर्थात् आट्णार पद बर्बर दिखाई देता है। यदि ब्लूमफील्ड के ध्यान में अंग्रेजी का Intinerary अपभ्रंश आगया होता तो ऐसा भ्रमपूर्ण लेख न करता।" (निरुक्त (1।14, पृ०, 43) । अंग्रेजी में आट्णार के अपभ्रंश के अस्तित्व से यह आट्णार पद देवासुरयुग का समझना चाहिये, जबकि योरोपवासी दैत्य भारतवर्ष में रहते थे। लौकिकसंस्कृत में यह प्रयोग लुप्तप्रायः है।

पृथिवी का यह नाम क्यों पड़ा, क्योंकि यह विस्तीर्ण रूप से फैली हुई है—'प्रथनात्पृथिवीत्याहुः' अर्थात् पृथिवीसृजन के समय फैलाई गई, दर्शन से भी यह पृथु (स्थूल) है।

पद के संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय) बताना पुरुषनिन्दा है, शास्त्रनिन्दा नहीं

है। बिना निर्वचन (निरुक्त) के मन्त्रों का अर्थ प्रकाशन नहीं हो सकता, अतः व्याकरण और निरुक्त वेदार्थ के लिये अनिवार्य शास्त्र हैं।

नाम-विवेचन—यह पूर्व लिखा जा चुका है कि यास्क, शाकटायनादि आचार्य नाम (संज्ञापदों) को धातुज (आख्यातज) मानते थे। गार्ग्यादि आचार्यों का इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद था, वे कुछ नामों को धातुज और कुछ को अधातुज मानते थे। यास्क मत में भी 'यथानि च एषां न्यायवत्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्' 'जो न्यायवान् (व्याकरण) लक्षण से युक्त कार्मनामिक (कर्मनिमित्त) संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय) है, उस कारण नाम का अर्थ ज्ञात हो, तो वैसा ही कहे जाने चाहिये अश्व, तृण, पृथिवी आदि का उदाहरण पूर्व दिया जा चुका है।

पाणिनि ने 'नाम' के लिये प्रातिपदिक संज्ञा का प्रयोग किया और सूत्र बनाये—'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' 'कृत्तद्धितसमासाश्च', ।

(अष्टा॰ 1 । 2 । 45-46)

'धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त पदों को छोड़कर शेष अर्थवान् पद प्रातिपदिक हैं, कृदन्त, तद्धित और समास भी प्रातिपदिक (नाम) हैं।

धातु या आख्यात क्रिया या कर्म की संज्ञा की क्रियाओं से ही नाम पड़ने के नौ कारण नैरुक्ताचार्य, पुराण कविगण तथा मधुक, श्वेतकेतु और गालव निम्न आधार मानते थे—

> तत्सत्त्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते ।
> सत्वानां वैदिकानां वा यद्वाऽन्यदिह किञ्चन ॥
> नवभ्य इति नैरुक्ता पुराणाः कवयश्च ये ।
> मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्वते ॥
> निवासात् कर्मणो रूपान्मङ्गलाद् वाच आशिषः ।
> यदृच्छयोपवसनात् तथाऽऽमुष्यायणाच्च यत् ॥

(1) निवास (2) कर्म (कार्य) (3) रूप (4) मंगल (5) वाणी (6) आशीः (7) यदृच्छा (8) उपवसन और (9) वंश या गोत्र—के कारण सभी नाम पड़ते हैं। पाणिनि के तद्धित प्रकरण से यह तथ्य और स्पष्ट और पुष्ट

होता है कि नाम निवास, वंश, रूपादि के आधार पर किस प्रकार पड़ते हैं जैसे गांगेय, माथुर, दारुकन्थिक, तक्षा, द्वैपायन, ऐक्ष्वाक दाशरथि, रथमुख, तुङ्गनखी इत्यादि शतशः एवं सहस्रशः उदाहरणों से सिद्ध है ।

यास्क ने नाम पड़ने के चार आधार माने हैं— (1) आशीः (2) वाक् (शब्दानुकृति) (3) कर्म और (4) अर्थवैरूप्य यथा कामदेव, लक्ष्मीपति आदि नाम शुभकामना से रखे जाते हैं, एक प्रकार से यहाँ भी प्राचीन नामों की अनुकृति और विश्वास होता है । यास्क ने स्पष्ट किया है कि काक आदि में पूर्णतः शब्दानुकृति नहीं है—'श्वा काक इति कुत्सायाम् । काक इति शब्दानुकृतिः । तदिदं शकुनिषु बहुलम् । न शब्दानुकृतिर्विद्यते इत्यौपमन्यवः ।'

(नि. 3 । 18)

अर्थवैरूप्य का अर्थ है कि एक ही शब्द की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति मानी जा सकती है, यथा सिंह, व्याघ्र, कपि आदि शब्दों की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं से सिद्ध की जा सकती है ।

कर्म से नाम पड़ने का विवेचन पहिले ही किया जा चुका है, यथा अश्व, तृण आदि । यास्क के समान गार्ग्य और शाकपूणि राथीतर भी नाम पड़ने के ये (आशीः, अर्थवैरूप्य, वाक् और कर्म) कारण मानते थे—

चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्कगार्ग्यरथीतराः । (बृहद्देवता 1 । 26)

परन्तु कुलपति शौनक सभी नामों को कर्म से ही व्युत्पन्न मानते थे—

सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः ।
आशी रूपं च वाच्यं च सर्वं भवति कर्मतः ।। (बृ. 1 । 27)

'सभी नाम कर्म से होते हैं, आशी, रूप, वाक् सभी कर्म से ही होते हैं ।' संसार में जो कुछ है, कर्म (क्रिया) का ही खेल है अतः नाम कर्म से ही पड़ते हैं, यह शौनकाचार्य का मत था कुछ लोग श्वा, काक, डित्थ आदि में प्रकृति-प्रत्यय का अभाव मानते हैं, यह शंका निराधार है, इनमें अर्थप्रतीति न होने का कारण अल्पज्ञान है न कि प्रकृतिप्रत्यय का अभाव ।

उपसर्ग

अर्थ, लक्षणादि—सृज् धातु में 'उप' उपसर्ग पूर्वक प्रत्यय लगाने पर यह 'उपसर्ग' पद बना है, उप का अर्थ है समीप या लघु रचना, अतः शब्दार्थ

हुआ समीप सर्जन या रचना। यह पदों का तृतीय विभाग वैयाकरणों में अति प्रसिद्ध था, अतः यास्काचार्य ने उपसर्ग का लक्षण या अर्थ बताने की आवश्यकता ही नहीं समझी। उन्होंने लिखा—

न निर्वद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुः—इति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थं प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्। (निरुक्त 1 । 3)।

'नाम और आख्यात से असम्बद्ध (बिना जुड़े) उपसर्ग निश्चय ही अर्थों को नहीं बताते, ऐसा शाकटायन का मत है। किन्तु नाम और आख्यात से जुड़कर वे अर्थविशेष के द्योतक होते हैं। गार्ग्याचार्य के मत में उपसर्ग बहुविध अर्थों को प्रकट करते हैं। वे उपसर्ग नाम और आख्यात के अर्थ को स्पष्टता से बताते हैं।

पं. भगवद्दत्त ने प्रश्न किया है कि यदि उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता तो उनकी पदसंज्ञा कैसे हुई। अतः शाकटायन का मत मूलरूप से अर्थात् अतिभाषा या वेद वाक् के सम्बन्ध में सत्य नहीं है। हाँ, उत्तरकाल में लोक भाषा (संस्कृत) में उपसर्गों का क्रिया के साथ होने लगा, पूर्वकाल में उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग भी होता था, अतः उनका स्वतन्त्र अर्थ भी होता था। वेदमन्त्रों, ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसूत्रों तक में इनका स्वतन्त्र प्रयोग मिलता है यथा—

'तदेवाभि यज्ञगाथा गीयते।' (ऐतरेयब्राह्मण 2 । 21)
'पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुः।' (ऋ. 10 । 1 । 13)
'अभि वा मन्त्रयेत।' (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 9 । 5 । 1)
'वि पाप्मना भ्रातृव्येण वर्तन्ते।' (आ. श्रौ. 23 । 7 । 1)
'अभि स्वर्गं लोकं जयन्ति।' (आ. श्रौ. 23 । 9 । 1)
'प्र व जायन्ते।' (आ० श्रौ० 23 । 2 । 9)

यास्काचार्य उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ मानते थे और उन्होंने प्रत्येक उपसर्ग का अर्थ लिखा भी है, जो आगे लिखा जायेगा।

उपसर्गसंख्या—यास्क ने उपसर्गों की संख्या बीस लिखी है—आ, प्र, परा, अभि, प्रति, अति, सु निर, दुर, नि, अव, उत्, सम्, वि, अप, अनु, अपि, उप, परि, और अधि।

पाणिनि के मत में उपसर्गों की संख्या 22 है, वे आदिगण में पढ़े गये है, जब धातु के साथ इनका संबन्ध होता है तभी वे उपसर्ग कहलाते हैं जैसे अनुगच्छति संतिष्ठते, पराजयति निर्गच्छति इत्यादि। जब इनका नाम के साथ सम्बन्ध होना है तो उनकी निपातसंज्ञा होती है यथा निष्कौशाम्बि, निर्वाराणसि प्रपर्ण, प्राध्यापक इत्यादि में। पाणिनि ने उपसर्ग के लिए 'गति' और 'कर्म-प्रवचनीय' इन दो नामों का और प्रयोग किया है। 'गति' संज्ञक उपसर्गों में और भी बहुत से पद सम्मिलित हैं, यथा—अलम्, पुरः, ऊरी, सत्, अन्तर्, कणे, मन: अद: तिर, अच्छ, उपाज, अन्वाज, साक्षात् मध्य इत्यादि। द्वितीया विभक्ति के साथ उपसर्गों (आदि) की 'कर्मप्रवचीय' संज्ञा होती हैं जैसे 'हरिमभि वर्तते', 'अतिदेवान्कृष्णः, इत्यादि। कर्मप्रवचीय निपात (उपसर्ग) केवल 11 है—अति, अधि, अनु, अप, अपि, अभि, आ, उप, परि, प्रति और सु।

आचार्य शौनक ने बृहद्देवता में बीस ही उपसर्ग गिने हैं जो क्रिया के योग में प्रयुक्त किये जाते हैं तथा ये नाम और धातु के विभक्तिरूपों में विशेषता जोड़ते हैं—

उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः।
विवेचयन्ति ते ह्यर्थं नामाख्यातविभक्तिषु॥ (बृ॰ दे॰ 2।94)

शौनक के अनुसार आचार्य शाकटायन ने तीन और उपसर्गों को माना हैं, अच्छ, श्रत् और अन्तर—

अच्छ श्रदन्तरित्येतानाचार्यः शाकटायनः।
उपसर्गान् क्रियायोगान्मेने ते तु त्रयोऽधिकाः॥ (बृ. दे. 2।95)

पाणिनि ने अच्छ, श्रत् और अन्तर, की गणना 'गतिसंज्ञक' उपसर्गों में की है – यथा अन्तर्हत्य, अच्छोद्य इत्यादि। श्रद्धा शब्द में श्रत् प्रत्यय सत्य या विश्वास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है श्रद्धा या श्रद्धधाति के अतिरिक्त श्रत् उपसर्ग का प्रयोग अन्यत्र लौकिक संस्कृत में सम्भवतः नहीं मिलता। अंग्रेजी के credit credible इत्यादि शब्दों में यही श्रत् उपसर्ग है और credit शब्द श्रद्धा का ही अपभ्रंश है, केवल लिपिदोष के कारण उसका ऐसा उच्चारण है।

आचार्य पाणिनि ने निस् और निर् तथा दुस् और दुर् को पृथक्-पृथक् उपसर्ग माना है जो सन्धि के कारण ऐसे है यदि इन दोनों को एक-एक ही माना जाय तो वस्तुतः 20 उपसर्ग बनते हैं।

कात्यायन ने 'मरुत्' को एक उपसर्ग माना है।

आचार्य भागुरि अव और अपि उपसर्गों के 'अ' का लोप मानकर अपिहित और अवगाहन को पिहित और वगाहन रूप में भी प्रयुक्त करते थे।

प्राचीन आचार्यों द्वारा परिगणित 23 उपसर्ग, पाणिनि कथित 24 गति, को मिलाकर 47 और दुर्‌दुस्‌निर्‌निस् को चार मानकर 49 उपसर्ग हुये।

उपसर्गों के अर्थ—उपसर्गों के अर्थ विषय में शाकटायन और गार्ग्य इन दो साम्प्रदायिक प्रतिनिधियों के मत पूर्वपृष्ठ पर लिखे जा चुके हैं। प्रातिशाख्यकार शौनक और कात्यायन के अनुसार उपसर्ग को "क्रिया वाचकमाख्यातमुपसर्गो, विशेषकृत् (ऋ. प्रा. 15।25)

'उपसर्गो विशेषकृत्' (वाजसनेयप्राति॰ 8।54) उपसर्ग धातु के अर्थ में विशेषता उत्पन्न कर देते हैं, जैसाकि अर्वाचीन वैयाकरणों ने लिखा है—'उपसर्गास्त्वर्थविशेषस्य द्योतकाः। प्रभवति पराभवति सम्भवति अनुभवति अभिभवति, उद्भवति, परिभवति इत्यादौ विलक्षणार्थावगतेः। उक्तं च—उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥ (सिद्धान्तकौमुदी तिङन्तप्रकरण)।

उपसर्ग अर्थविशेष के द्योतक हैं जैसे प्रभवति, पराभवति इत्यादि भूधातु में तथा प्रहार संहार विहार परिहार आदि 'हृ' धातु में। जैन शाकटायनधातुवृत्ति में श्लोक है—

> धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते।
> तमेव विशिनष्ट्यु पसर्गगतिस्त्रिधा ॥

(1) उपसर्ग की गति तीन प्रकार से होती है, कहीं धात्वर्थ में नवीन अर्थ कहीं, उसका अनुसरण और कहीं उस धात्वर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न करता है।[1] उदाहरण पूर्व दिये जा चुके हैं।

अतः पाणिनि और अनेक सम्प्रदाय उपसर्गों में अर्थ मानते थे। यास्क ने निश्चय ही उपसर्गों का अर्थ निर्देश किया है। यद्यपि धातु के साथ लगाने से उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु यास्क ने उपलक्षणार्थक केवल एक ही अर्थ एक उपसर्ग का अभिहित किया है—

(2) 'आ' उपसर्ग जबकि (इधर) के अर्थ में है, अर्थात् निकट या पास के अर्थ में।

(3) 'अ' और 'परा' उपसर्ग धात्वर्थ को पृथक दूर या विपरीत ओर ले जाते है। जैसे परावयर्ते में।

(4) 'अभि' यह आभिमुख्य अर्थात् सामने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(5) 'प्रति' यह 'अभि' के विपरीत अर्थ को प्रकट करता है जैसे 'प्रतिगच्छति' दूसरी ओर जाना।

(6) (7) 'अति' और 'सु' ये पूजा या सम्मान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं यथा-सुपूजयति, अतिपूजयति में।

(8) (9) 'निर्' और 'दुर्' उपसर्ग निग्दार्थ में आते हैं, यथा निर्ऋते दुर्गच्छति में।

(10) (11) 'नि' और 'अव' उपसर्ग नियमन, शासन या अवग्रह के अर्थ में यथा—निषीदति, निगृह्णाति, अवसीदति में।

(12) 'उत्' उपसर्ग नियमन के विपरीत अर्थ में यथा उत्तिष्ठति उद्गच्छति, उद्गृह्णाति, उत्क्रमते जैसा कि पाणिनि के सूत्र से भाव निकलता है—'उदोऽनूर्ध्व कर्मणि,' (अष्टा० 1। 3। 34) उत् उपसर्ग प्राय उर्ध्वकर्म के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

(13) 'सम्'—यह उपसर्ग एकीभाव (इकट्ठा) के अर्थ में आता है, जैसे संयम, संज्ञान, सम्भव, संवर्ष शब्दों में।

(14) (15) वि और अप् 'सम्' के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे अपराध्यते, विराध्यते, अपगच्छति और विहरति में।

(16) 'अनु' उपसर्ग अनुकूल या समानता या अनुगमन के अर्थ में होता

है—यथा अनुहरति अनुगच्छति, अनुमोदते में।

(17) 'अपि' सम्बन्ध या 'संसर्ग' को बतलाता है—अपिदधाति अपिजानाति, अपिधारयति अपिश्रृणोति इत्यादि में।

(18) 'उप' यह उपसर्ग समीपता (नैकट्य) अर्थ में बहुलता से प्रयुक्त हुआ है यथा उपभुङ्क्ते उपयुङ्क्ते उपबध्नाति, उपनिषीदति, इत्यादि में, कहीं-कहीं अधिकता अर्थ में जैसे उपजायते में।

(19) 'परि' यह सर्वतोभाव या चतुर्दिक् स्थिति के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यथा परिणमते, परिगच्छति, परिव्रजति में।

(20) 'अधि' यह उपरिभाव या अधीश्वरभाव को बतलाता है, यथा अधितिष्ठति, अधीते, अधिरमते अधिगच्छति इत्यादि में श्रत्, अन्तः और अच्छ क्रमशः सत्य, अन्दर और स्वच्छता के अर्थ में आते हैं।

निपातविवेचन—'नि' पूर्वक 'पत्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'निपात' की व्युत्पत्ति हुई है। यह चतुर्थ पदविभाग है जो यास्कादि ने माना है—पाणिनि ने स्वरादि निपात को अव्यय माना है—'स्वरादिनिपातमव्ययम्' 'निपात' एक प्रकार से अव्यय की संज्ञा है। यास्क के मत में निपात बहुविध अर्थों को प्रख्यापित करते हैं—'अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे। अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि पदपूरणः।" अतः निपातों के मुख्यत ये भेद हैं—(1) उपमार्थक (2) कर्मोपसंग्रहार्थक (3) समुच्चयार्थक और (4) पदपूरक।

कुछ विद्वान् पदपूरक निपातों को निरर्थक या अनर्थक मानते हैं। वस्तुत ऐसी बात नहीं, जिस प्रकार अंग्रेजी में A, An, और The आर्टीकल निरर्थक नहीं हैं, ऐसे ही वेद में प्रयुक्त पदपूरक निपात निरर्थक नहीं हैं, यदि वे निरर्थक माने जायें तो उनकी पद या प्रातिपदिक संज्ञा कैसे होगी। वस्तुतः प्रत्येक पदपूरक निपात का भी अर्थ होता था, कालान्तर में उस अर्थ की उपेक्षा होने के कारण उसको निरर्थक माना गया।

निपातों या अव्ययों की संख्या बहुत है। परन्तु यास्काचार्य ने महत्वपूर्ण

23 निपातों का विवेचन किया है—अह, आ, इत्, इव, ईम, उ, उत्, कम्, किल, खलु, च चित् स्वत् न, ननु, नु, नूनम्, मा, वा, शश्वत्, सीम्, ह और हि।

उपमार्थीय निपात है—(1) इव (2) न (3) चित् और (4) नु।

कर्मोपसंग्रहार्थीय निपात क्रिया और पदार्थ के पार्थक्य को बताते है वे हैं—(1) च (2) आ (3) वा (4) अह और (5) ह। कर्मोपसंग्रहार्थीय का ही एक भेद समुच्चयार्थ है, च आदि ऐसे ही निपात हैं। इनके अतिरिक्त उ, हि, किल मा, खलु आदि निपात भी कर्मोपसंग्रहार्थीय हैं।

इव, खलु, नूनम्, सीम् कभी-कभी पादपूरक होते हैं और कम् ईम् इत् और उ को यास्क ने पूर्णतः पदपूरण माना है।

अर्थ—इव, न, चित् और नु-ये चार निपात वेदमन्त्रों में उपमार्थ में प्रयुक्त हुये हैं।

'इव' वेद और लोकभाषा दोनों में ही उपमार्थक है, यथा अग्निरिव, इन्द्र इव।

'न' निपात भाषा में प्रतिषेधार्थीय है और वेद में उपमार्थक और प्रतिषेधार्थीय दोनों हैं, यथा—'नेन्द्रं देवममंसत' (ऋ० 10।86।1) मन्त्रांश में प्रतिषेधार्थीय है और 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (ऋ० 8।2।12) प्रयोग में उपमार्थीय है।

'चित्' निपात अनेकार्थक है। 'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात् इति पूजायाम्', 'आचार्य के अतिरिक्त और कौन (अर्थ) बता सकता है। यहाँ पर यास्क ने आचार्य का लक्षण और निर्वचन भी बताया है—'आचारं ग्राहयति। आचिनोत्यर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा। (नि० 1।4)। दधिचित् और प्रयोग उपमार्थक है और 'कुल्माषांश्चिदाहर' (कुल्माष-उड़द ही ले आओ) यह निन्दार्थक है।

'नु' निपात अनेकार्थक है, यथा हेतुकथन से —'इति नु करिष्यतीति' और उपामार्थक प्रयोग का प्रसिद्ध —

"वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः", (ऋ० 6।24।3)
'वृक्ष के समान हे इन्द्र ! तेरी शाखायें विस्तृत हैं।'
'च' निपात लोक और वेद में समुच्चयार्थक है—
'अहं च त्वं च वृत्रहन्' (ऋ० 8।62।11)।

'देवेभ्यश्च पितृभ्य आ' यहां 'आ' और' समुच्चय के अर्थ में हैं, इसी 'वैदिक' 'आ' निपात से हिन्दी का 'और' समुच्चयार्थक निपात (अव्यय) बना है।

'अह' और 'ह' पदों को पृथक् करने वाले निपात हैं। 'उ' निपात भी विनिग्रहार्थीय (पृथक् करने वाला) है—'सत्यमु ते वदन्ति' इस प्रयोग में। 'उ' पादपूरण भी होता है। 'हि' अनेकार्थक निपात है, हेतुकथन, पृच्छा आदि में इसका प्रयोग होता है—यथा इदं हि करिष्यतीति', हेत्वपदेशे, 'कथं हि करिष्यतीति अनुपृष्टे'। 'हि' के आगे 'न' निपात लगाकर संस्कृत और हिन्दी का 'नहि' और 'नहीं' बना है। 'किल' निपात लोक तथा वेद दोनों में ही अतिशय (विद्याप्रकर्ष) या प्रसिद्धि के अर्थ में आता है—यथा लोक में 'जघान कंसं किल वासुदेवः; वेद में 'किलायं रसवाँ उतायम्' (ऋ० 6।47।1) पृच्छा (अनुपृष्टे) में 'न' और 'ननु' के साथ आता है—

'न किलैवम्' 'ननु किलैवम्' 'नहीं ऐसा क्या' 'तो क्या ऐसा हुआ।'

'मा' निपात प्रतिषेधार्थीय लोकभाषा (संस्कृत) और वेद में प्रसिद्ध है। 'मा कार्षीः' मा निषाद। प्रतिष्ठां त्वमगमः' 'खलु' निपात निषेध, पदपूरण और निश्चय होने के अर्थ में लोक और वेद में प्रयुक्त होता है—यथा-खलुकृत्वा इत्यादि।

'शश्वत्' निपात विचिकित्सार्थीय (संशयार्थक) संस्कृत में। प्राचीन आचार्य विचिकित्सा का अर्थ निश्चय भी करते थे। अनुपृष्ट में 'शश्वदेवम्' और अस्वयंपृष्ट में 'एवं शश्वत्' प्रयोग होता है। यह पदपूरण भी है।

'नूनम्' निपात विचिकित्सार्थीय है, कहीं पद पूरण भी है। यास्क द्वारा प्रसिद्ध उदाहरण—'न नूनमस्ति नो श्वः।' मन्त्र में है। पदपूरण—'नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र......।"

'सीम्' परिग्रहार्थीय (सब ओर से ग्रहण) और पदपूरण है। 'त्व' विनिग्रहार्थीय (पृथक् करने वाला) सर्वनाम (अनुदात्त) है। कुछ के मत में इसका 'अर्ध' या 'एक' अर्थ है। अन्य विद्वान् इसको निपात मानते हैं। यास्क ने इसको अव्यय के विपरीत दृष्टव्यय (सर्वनाम) ही माना है—यथा मन्त्रोदाहरण—

'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः' (ऋ० 10।71।5)।

'उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे', (ऋ० 10।71।4)।

अतः यह सर्वनाम ही अधिक है, कहीं-कहीं निपात है। यह अनुदात्त होने पर सर्वनाम है। निपात भी अनुदात्त होते हैं। त्व के साथ त्यद् सर्वनाम या निपात भी प्रयुक्त हुआ है। इसी का एक रूप 'स्यद्' है जो अंग्रेजी के 'The' के रूप में अवस्थित है।

'कम्', 'ईम्', 'इत्' और 'उ' निपातों को यास्क ने पदपूरण (—निरर्थक) माना है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं थी, इनका भी सूक्ष्म अर्थ था, जो कालान्तर में लुप्तप्रायः हो गया।

क्या मन्त्र अनर्थक (निरर्थक) है—यास्काचार्य ने लिखा है कि यदि निरुक्तशास्त्र मन्त्रार्थज्ञान के लिये है तो यह शास्त्र व्यर्थ है क्योंकि मन्त्र ही अनर्थक है, ऐसा कौत्स आचार्य का मत है। अतः कौत्स ने वेदमन्त्र और निरुक्तशास्त्र—दोनों को ही निरर्थक बताया है। इस विषय पर यास्क का शास्त्रार्थ लिखने से पूर्व यह जानना चाहिये कि कौत्स कौन था और उसके क्या सिद्धान्त थे। उसके द्वारा मन्त्रों को अनर्थक कहने का क्या तात्पर्य है।

कौत्स एक गोत्र नाम था। पाराशर्यव्यास का एक प्रधानशिष्य मीमांसाकार जैमिनि भी कौत्सगोत्रीय था, जिसको महाभारत में ही वृद्ध, कौत्स, आर्य जैमिनि कहा है—

'वृद्धः कौत्सार्य जैमिनिः' (आदिपर्व 48।7)

मीमांसासूत्रकार जैमिनि अतिदीर्घजीवी पुरुष, था क्योंकि वह धृतराष्ट्र कौरव से जनमेजय पारीक्षित (पाण्डव) के समय तक जीवित रहा। कौत्स आर्य जैमिनि कौत्स का कोई पूर्ववर्ती आचार्य था, क्योंकि जैमिनि ने भी पूर्वपक्ष के

रूप में कौत्स के मत को लिखा है। कौत्स और जैमिनि के सामान्य वचन द्रष्टव्य है

निरुक्तोक्त कौत्सवचन	जैमिनिसूत्र
	आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् ।
(1) अनर्थका ही मन्त्राः	आनर्थक्यमतदर्थानाम् ।
(2) अनुपपन्नार्था भवन्ति ओषधे त्रायस्वैनम्	अचेतनार्थसम्बन्धात् ।
(3) विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति	अर्थविप्रतिषेधात् ।
(4) अविस्पष्टार्था भवन्ति	अविज्ञेयात्

यह तुलना डा० लक्ष्मणस्वरूप एवं पं० भगवद्दत्तने स्व स सम्पादित निरुक्त शास्त्रों में की है।

आचार्य यास्क ने कौत्स के नाम से सात कारण लिखे हैं जिससे प्रतीत होता है कि मन्त्र निरर्थक एवं ऊलजलूल हैं। ये सात वचन इस प्रकार हैं—

(1) नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ।

(2) अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते ।

उरु प्रथस्व (यजु 1।22) इति प्रथयति

प्रोहाणि । इति प्रोहति

(3) अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति ।

ओषधे त्रायस्वैनम् (मै. स. 3।9।3)

स्वधिते मैनं हिंसीः (यजु. 4।1) इत्याह हिंसन् ।

(4) अथापि विप्रतिषिद्धा भवन्ति ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे (ऋ. 10।133।2)
शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः (ऋ. 10।103।1)

(5) अथापि जानन्तं संप्रेष्यति । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि इति ।
(तैत्तिरीयसंहिता 6।3।7।1) ।

(6) अथापि आहादितिः सर्वमिति । (ऋ. 1।86।10)

(7) अथाप्याविस्पष्टा भवन्ति । अम्यक्, काणुका । इति ।

(1) मन्त्राक्षर नियतानुपूर्वी होते हैं, यथा मन्त्र में यदि 'यम' शब्द है तो उसके लिये 'मृत्यु' या 'काल' शब्द नही रख सकते, इसी प्रकार 'अग्नि' के स्थान पर 'वह्नि' नहीं रख सकते । अतः लोकदृष्टि से मन्त्र अनर्थक है, इसके विपरीत लौकिक संस्कृत में अग्नि का कोई भी पर्याय रखकर 'वाक्य' सार्थक रहेगा और संज्ञा और क्रिया को वाक्य में आगे पीछे रखने पर भी अर्थ वही रहेगा, परन्तु वेद में ऐसा नहीं है, अतः कौत्स के मत में मन्त्र निरर्थक है ।

इसका उत्तर यास्क ने इस प्रकार दिया है कि लौकिक शब्दों के समान वैदिक पद भी अर्थवान् होते हैं और शब्दक्रम का उपयोग लोकभाषा में भी होता है—यथा—इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ इत्यादि। वेद में कठोर एवं निश्चित आनुपूर्वी एवं वाचोयुक्ति के अन्य अनेक कारण भी हैं । प्रारम्भ में मूलध्वनियों (शब्दों) का एक-एक ही अर्थ निश्चित था, यथा अग्नि का है—आगे ले जाने वाला अग्रणी (नेता) और वह्नि का अर्थ है—घोड़ा (वहन या ढोने वाला) दोनों के अर्थ में आकाश-पाताल या स्वामि-सेवक जैसा अन्तर है। यम (देवता या परमात्मा) शासन करते समय यम है, मृत्यु के समय काल है अतः वेद में पर्यायवाची शब्द अनुपपन्न है, पर्यायवाची की कल्पना तो अर्थविस्मृति के कारण उत्तरकाल में अज्ञान से उत्पन्न हुई । अतः पद का जो अर्थ वेद में है, वह लोक में नहीं, इसीलिये वेद में नियतानुपूर्वी और वाचोयुक्ति का अधिक महत्त्व है । पं. भगवद्दत्त ने इसका एक कारण और स्पष्ट किया है 'मन्त्रों का सृजन देवों द्वारा हुआ। उन भौतिक शक्तियों (देवों) से जो ध्वनियाँ निकलीं, और उन ध्वनियों के साथ जो पदार्थ उत्पन्न हुये, उन सबका रूप यज्ञक्रिया में रहता है ।" (निरुक्तम्, पृ. 51) । अतः शक्ति का एक रूप दूसरे रूप का कार्य नहीं कर सकता, यथा विद्युत् के कार्य को अग्नि नहीं कर सकती अतः वेद की आनुपूर्वी लोकभाषा की अपेक्षा अधिक सार्थक एवं हेतुहेतुक है ।

द्वितीय; जो ब्राह्मणवचन में अपने रूप में सम्पन्न विधान का कथन है, वह मन्त्रोक्त कथन का अनुवाद या पुष्टि है, उसका विरोध नहीं है ।

'उरु प्रथस्व' मन्त्र कहकर ऋत्विक् पुरोडाश को फैलाता है और 'प्रोहाणि' कहकर पूर्व की ओर करता है, यह भी मन्त्रोक्त बात को स्पष्ट ही करता है, वह अनुपपन्नार्थता नहीं है ।

तृतीय, कौत्स, ने 'ओषधे त्रायस्वैनम्' इत्यादि में हिंसाभाव देखा है यह अयुक्त है, क्योंकि मूल वेदवचन में अहिंसा का ही भाव है हिंसा का विधान यज्ञों में उत्तरकाल में हुआ, इससे वेदमन्त्र अनर्थक नहीं होगया, उदाहरणार्थ ऋग्वेद के द्यूतसूक्त में द्यूतक्रीडा का निषेध है, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में राजसूयादि के अवसर पर द्यूतक्रीडा का विधान है, अतः अनुचित विधान से वेदमन्त्र अनर्थक नहीं होते ।

और, चतुर्थ, कौत्स ने, मन्त्र वचनों को परस्पर विपरीत अर्थ वाले बताया जैसे 'अशत्रुरिन्द्रः', 'शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः', इसके उत्तर में यास्क का कथन है कि यह प्रासङ्गिक या आलङ्कारिक वर्णन है, जैसे लोक में किसी राजा को 'अजातशत्रु' या 'अनमित्रो राजा' 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः, इत्यादि कहते हैं, जब कि प्रत्येक व्यक्ति के शत्रु होते हैं, फिर राजा के सम्बन्ध में कहना ही क्या ।

कौत्स का पाँचवा आक्षेप है कि जानकर भी अध्वर्यु प्रैषकर्म करता है यथा अग्नि के लिए सामिधेनी ऋचायें बोलो । लोक में छात्र गुरु के सामने अभिवादन करते हुये अपना गोत्रादि बताता है जब कि गुरु को इसका ज्ञान होता है, न्यायाधीश के सामने वकील कानून बताता है जबकि न्यायाधीश उसको जानता है, अतः जानते हुये भी अनेक बातें कहना निरर्थक नहीं होता । अतः मन्त्र सार्थक हैं ।

कौत्स का षष्ठ आक्षेप है कि वेदमन्त्रों में अनेक निरर्थक बातें या प्रमत्त-प्रलाप किया है जैसे 'अदिति' ही सब कुछ है । इसके उत्तर में यास्काचार्य ने कहा है कि लोक में भी कहते हैं कि 'सर्वरसा अनुप्राप्ता पानीयम्' पानी में सब रस है । एकपदे ही जल को मधुर, तिक्त आदि नहीं बताया जाता है । कौत्स के मन्तव्य के विपरीत वेद में अतिज्ञान की पराकाष्ठा मिलती है 'अदिति'[1]

1. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।।

(ऋग्वेद 1 । 89 । 10)

को यहाँ सब कुछ कहने का तात्पर्य वेदान्त या सांख्य के ब्रह्म या पुरुष-प्रकृति का ऐक्य या सर्वात्मकता ज्ञापित करने से है। वह अज्ञान नहीं पूर्णज्ञान का प्रतीक है, जिससे संशयज्ञान या भ्रम उत्पन्न नहीं हो।

और वेदमन्त्रों में 'अम्यक्', 'यादृश्मिन्', 'जारयायि', 'काणुका अथवा 'जर्फरी' 'तुर्फरी' 'जह्ना', 'कौरयाण' 'हुरयाण' आदि शतशः पद या वाक्य मिलते हैं, जिनका अर्थ स्पष्टतः ज्ञात नहीं होता, इसके आधार कौत्स वेदमन्त्रों को निरर्थक या अनर्थक कहते हैं। इसका कड़ा उत्तर यास्काचार्य ने इस प्रकार दिया है—'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति।' 'यह स्थाणु (ठूँठ या स्तम्भ) का अपराध नहीं है कि अन्धा उसको देख नहीं सकता।' यदि किसी शब्द का अर्थ किसी को ज्ञात नहीं है तो वह अनर्थक नहीं हो गया। इसके लिए ही तो निरुक्तशास्त्र की महती आवश्यकता है। इसीलिए ज्ञानियों में भी भूयोविद्य या सर्वविद्य प्रशंसनीय होता है। तदनन्तर यास्क ने ज्ञान की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम्।'' 'वह ठूँठ के समान है और बोझा ढोने वाला है जो वेद अध्ययन करके अर्थ को नहीं जानता' अतः अर्थज्ञान परमावश्यक एवं प्रशस्य है।

अध्याय-तृतीय

भाषापरिवर्तन और निर्वचनसिद्धान्त

यास्कोक्त निर्वचनसिद्धान्तों का भाषापरिवर्तनसिद्धान्तों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः पहिले संस्कृतव्याकरणशास्त्र में कथित भाषापरिवर्तननियमों को संक्षेप में प्रतिपादित करेंगे।

अतिभाषा—इसकी सिद्धि से आधुनिक अनेक मिथ्याभाषामतों का खण्डन होता है। प्राचीन संसार के साहित्यिक इतिहास से सिद्ध है कि प्राचीन भाषायें अत्यधिक समृद्ध और उन्नत थी, उनकी शब्दराशि आधुनिक भाषाओं की अपेक्षा अनेक गुण अधिक थी। अपने देश में हिन्दी और संस्कृत की तुलना से ही यह तथ्य सुपुष्ट होता है कि प्राचीन भाषायें अत्यधिक समुन्नत थीं। भाषा के आधार पर समाज के विकास या भाषा के विकास का सिद्धान्त पूर्णतः खण्डित हो जाता है, अतः भाषा का ह्रास होता है न कि विकास।

अतिभाषा के अस्तित्व से भारोपीय (Indo-Europeon) भाषा का काल्पनिक अस्तित्व भी खण्डित होता है, जैसाकि पूर्व संकेत कर आयें हैं कि दैत्य-दानवों ने बलि के समय में कौन-कौन से योरोपीय देश बसाये। अतिभाषा के प्रत्येक पर्यायवाची शब्द में सूक्ष्म अर्थभेद था, परन्तु मतिमान्द्य के कारण उत्तरकाल में वे एक ही पदार्थ के पर्यायवाची माने गये और प्रत्येक जाति या देश अतिभाषा का एक-एक पर्याय ग्रहण कर लिया, बृहदारण्यक में अश्व के पर्याय के प्रमाणों से यह तथ्य पूर्व लिखा जा चुका है।

अतिभाषा के अस्तित्व से यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि संसार की आदि, मूल एवं प्राचीनतम भाषा वही थी, अन्य भाषायें उसी के विकार या

परिवर्तित एवं संकुचित रूप हैं। अतः ग्रीक या अंग्रेजी भाषाओं में 'भाषा' के लिए एकमात्र एक Language शब्द ही मिलता है जब अतिभाषा में इसके लिए सौ से अधिक पर्याय थे।

अतिभाषा से ही भाषापरिवर्तन और तत्परिणामस्वरूप निर्वचन सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। अतिभाषा में विकार परिवर्तन और ह्रास किस प्रकार हुआ—किन सिद्धान्तों या अपसिद्धान्तों पर हुआ, यह यहाँ संक्षेप में विवेचन किया जायेगा।

भाषा परिवर्तन के कारण—साधु (शुद्ध) शब्दों के अशुद्ध या परिवर्तन या विकार के व्याकरण एवं निरुक्त में निम्न कारण बताये गये हैं—शारीरिक अशक्ति, अङ्गविकार, संस्कारहीनता, भूगोल, लिपिदोष, जाति, धर्म, शासन, विभक्तिलोप, वर्णलोप, वर्णविपर्यय, स्वरभक्ति, वर्णागम, उच्चारणदोष, सादृश्य, सम्प्रसारण, एवं वर्णपरिवर्तन। इन तथा अन्य अनेक कारणों की संक्षेप में व्याख्या करते हैं।

शारीरिक कारण—शारीरिक अक्षमता, जो जन्मजात या रोगादि के कारण हो, उसके कारण मनुष्य अशुद्ध उच्चारण करता है, नारदशिक्षा (2।8।12) अग्निपुराण में श्लोक प्रसिद्ध है—

न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः।
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति॥

'विकराल (विवृत) मुखवाला, लम्बोष्ठ, तुतला, नाक के स्वर से बोलने वाला, गद्गद् और बद्धजिह्व व्यक्ति शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता।'

संस्कारहीनता—मनु का वचन प्रसिद्ध है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।

वृषलत्वं गतालोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ (म० स्मृ० 10।43) 'शनैः शनैः क्रिया (संस्कारों) के लोप और ब्राह्मण के अदर्शन से ये क्षत्रिय जातियाँ (यवनादि) वृषल (म्लेच्छ) होगईं।' यहाँ पर क्रियालोप का मुख्यभाव है सही शिक्षा का अभाव और ब्राह्मण का अर्थ है शिक्षित, विद्वान् या यथार्थ गुरु। अतः भाषा में मूलविकार अशिक्षा और शास्त्र (व्याकरणादि) के

अभाव में उत्पन्न हुआ। मूर्ख व्यक्ति आज भी अशुद्ध भाषा या अश्लील भाषा बोलते हैं।

संस्कार के कारण ही शुद्ध भाषा (लोकभाषा) को 'संस्कृत' कहा गया— यास्क द्वारा 'स्वर और संस्कार से समर्थ' पदों के कथन का यही भाव है— 'स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि। यथा गौरश्वः पुरुष हस्तीति।" ने गौः, अश्व, पुरुष, हस्ती आदि संस्कृत (साधु या शुद्ध) शब्द हैं, इसी प्रकार अन्य साधु शब्दों को समझना चाहिये, संस्कारहीनता से मूर्ख भ्रष्ट उच्चारण करते हैं जैसे गाय, अस्व, पुरुख, हाथी इत्यादि। इसी प्रकार प्रमाद, यदृच्छा आदि के कारण विकृत उच्चारण होते हैं। विकृत शब्दों का निर्वचन साधुशब्दों के आधार पर हो सकता है अन्यथा उनके प्रकृति प्रत्यय या मूल नहीं बताया जा सकता यथा गोपोतलिका या गावड़ी शब्दों का मूल या साधुत्व 'गौः' से ही ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नहीं।

महामुनि पतञ्जलि के महाभाष्य में तथा शिक्षाग्रन्थों में ग्रस्त, संवृत, सन्दष्ट आदि अनेक दोष बताये गये हैं, यथा पाणिनीयशिक्षा में—

> शङ्कितं भीतमुद्धृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
> काकस्वरं शिरसिगतं तथा स्थानविवर्जितम्।
> उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
> निष्पीडितंग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्॥

आधुनिक विद्वानों ने अन्य प्रकार से भाषाविपर्यास के कारणों का वर्णन किया यथा भूगोल (देशकाल या जलवायु), जाति, धर्म आदि के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता है। उच्चारण दोष का एक महान् कारण लिपिदोष भी है, यथा संस्कृत और हिन्दी के 64 वर्णों का उच्चारण अंग्रेजी (रोमन) के 26 वर्णों द्वारा करना कितना असम्भव है, इस लिपिदोष के कारण शब्दों का शुद्ध उच्चारण हो ही नहीं सकता, इसी लिपिदोष के कारण उक्षन् का ओक्सन (Oxen), 'चरित्र' का करैक्टर (=चरैक्टर ?) 'द्यु' का 'डे' जैसे उच्चारण हो गये। योरोपीय भाषाओं के सहस्रों शब्द लिपिदोष के कारण ही अशुद्ध या अनेक प्रकार से बोले जाते हैं, यद्यपि अन्य भौगोलिक या शारीरिक कारण भी हैं।

भाषाविकार में मन (आलस्य, यदृच्छा) आदि का योग—ब्राह्मणग्रन्थों एवं अन्य प्राचीनव्याकरणादि शास्त्रों में भाषाविकार का एक प्रधानकारण आलस्य, यदृच्छा, (स्वेच्छा), अनभ्यास और उद्विग्न मन बताया गया है। असुर (दैत्यदानव) एवं यवनादि म्लेच्छों ने उद्विग्न मन से शब्दों का उच्चारण किया, वे 'अरि' को 'अलि' क्षत्रिय को 'खत्री', असुर को 'अहुर' 'स्वधा' को 'खुदा' 'सप्ताह' को 'हफ्ता' इत्यादि कहने लगे, अतः म्लेच्छीकरण (अशुद्धवाक्) का मुख्य कारण मन था। मूल में 'म्लेच्छ' शब्द 'भाषाविकृति' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ, उत्तरकाल में 'म्लेच्छ' मांसभक्षक यवनादि के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

सादृश्य—भाषा में सदृश ध्वनियाँ विपर्यास या परिवर्तन का कारण होती हैं यथा एकादश के आधार पर द्वादश' पद बना, क्त, क्तवतु, आलु (यथा दयालु) आदि प्रत्ययों का निर्माण भी सादृश्य नियम के आधार पर हुआ। इसी प्रकार विभक्तियों और धातुरूप, कृदन्तादि शब्द सादृश्य के नियम के आधार पर बने और इसी सादृश्य के आधार पर उनका निर्वचन या निरुक्ति की जाती है। अतः सादृश्य निर्वचन में विशेष सहायक है।

तालव्य सिद्धान्त—कण्ठ्य (अ, क ख ग घ ङ ह् और विसर्ग) और दन्त्य (लृ त थ द ध न और लस) वर्णों का तालव्य (इ च छ ज झ ञ य श) में परिवर्तन तालव्य नियम कहलाता है जैसे अर्च् का अर्क, सृज का 'सर्ग' में बदलना अथवा वचा से वक्ष् और घस् का 'जघास' रूप इत्यादि इसी नियम के उदाहरण हैं, पाणिनि के 'कुहोश्चु' 'स्तोः श्चुना श्चुः', 'झलां जशोऽन्ते' आदि सूत्रों में इसी नियम का विस्तार है।

इस नियम के आधार पर पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों ने यह कल्पना की है कि तालव्य वर्ण मूल भारोपीयभाषा (काल्पनिक) में नहीं थे वे कण्ठ्य वर्णों से परिवर्तित हुये। इसी प्रकार मूर्धन्य (ऋ, टवर्ग, र, ष) वर्ण भारोपीय भाषा में नहीं थे, वे आर्यों ने द्रविड़ादि से लिये। ये सभी नियम भारोपीय काल्पनिक भाषा की सिद्धि और अतिभाषा की मौलिकता को नष्ट करने के लिए कल्पित किये गये। अतः इन पाश्चात्यमतों में कोई सार नहीं, केवल

मिथ्याभ्रम उत्पन्न किया गया। अतिभाषा की पूर्णता इन सब मतवादों का खण्डन करती है। वैदिक ग्रन्थों में वर्ण के तालव्य और दन्त्य व कण्ठ्य दोनों ही रूप मिलते हैं यथा—

मार्गिम	...	मार्जिम
युगा	...	युजा
तरेम	...	चरेम
तरन्ति	...	चरन्ति

इसी प्रकार ह् का ओष्ठ्य भ् में परिवर्तन हो जाता है यथा ग्रह् का गृभ और सह् का सोढ़, वह् का वोढ़ मूर्धन्य ढ में परिवर्तन हो जाता है, पाणिनि ने इन सभी नियमों का निर्देश अष्टाध्यायी में किया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

विट्	विश्
राड्	राज्
सम्राट्	सम्राज्
विभ्राट्	विभ्राज्

ये मूर्धन्य (अन्त्यवर्ण) के तालव्यवर्ण बन जाते हैं।

ग्रिम का नियम—इस प्रसङ्ग में जर्मनभाषावेत्ता ग्रिम के नियम की चर्चा करना उपयुक्त होगा। तदनुसार भारोपीय 'प' वर्ण ग्रीक, लैटिन और संस्कृत में 'प' ही रहा परन्तु आधुनिक योरोपीय भाष (जर्मन, अंग्रेजी आदि) में 'फ' या 'व' हो गया। इसी प्रकार मूल 'त' अंग्रेजी में 'थ' हो गया—यथा—

त्रि	थ्री
पर्ण	फर्न, वर्न
पाद	फुट
पितृ	फिदर, इत्यादि

यद्यपि ग्रिमनियम त्रुटिपूर्ण था, परन्तु आंशिक सत्य है तथापि यह कोई नया तथ्य नहीं है, प्राचीनभारतीयनियम का ही योरोपीयन लेखकों ने अनुकरण किया—भरत का श्लोक है—

आपानं आवाणं भवति पकारेण वत्वयुक्तेन।
परशुं फरशुं विद्यात् पकारवर्णोऽपिफत्वमुपयाति ॥

प्राकृत और हिन्दी में भी संस्कृत 'प' का 'फ' हो जाता है यथा—परशु – फरसा।

सम्प्रसारण—अन्तस्थ वर्णों (य् र् ल् व्) का क्रमशः इ, ऋ, लृ और उ में परिवर्तन अथवा विपरीत परिवर्तन सम्प्रसारण कहलाता है। 'य्' इत्यादि को अन्तस्थ इसलिये कहते हैं कि इनका उच्चारण स्वरों और व्यंजनों के मध्य में होता है। यथा 'यज' का 'इयाज' 'वस्' का 'उवास' इत्यादि रूप इस सम्प्रसारण नियम के उदाहरण हैं। वेदभाषा में इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है, यह नियम शब्दनिर्वचन में विशेष सहायक है। पाणिनि के इस सूत्र में यह नियम संकथित है—'इग् यणः सम्प्रसारणम्' (अष्टाध्यायी 1।1।45)।

यास्कोक्त वर्णविकारनियम

यों समस्त निरुक्त ही निर्वचनशास्त्र है, परन्तु यास्क ने द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में निर्वचनसिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख किया है, जिनका यहाँ व्याख्यान किया जायेगा। यास्क के सिद्धान्तों को उत्तरवर्ती नैरुक्तों ने इस प्रकार संग्रह किया—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधंनिरुक्तम् ॥

वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार और वर्णनाश तथा धात्वर्थ का अतिशय योग—इस प्रकार पञ्चविध निरुक्त होता है। पुनः इस वर्णविकार को द्वित्व-द्वित्व करके दस भागों में विभक्त किया गया है—

(1) आदिलोप—यथा 'अस' धातु के 'अ' का लोप स्तः, सन्ति में। इसी प्रकार 'प्रत्तम्' 'अवत्तम्' में धात्वादि (दद् धातु) अवशिष्ट रहती है।

(2) अन्तलोप—धातु का अन्तलोप जैसे 'गम्' का म् लुप्त हो जाता है—गतम्, गत्वा

(3) उपधालोप—अन्त्यवर्ण से पूर्ववर्ण का लोप यथा 'गम्' धातु के ही 'अ' वर्ण का लोप जग्मे, जग्मुः इत्यादि में।

(4) उपधाविकार—यथा 'राजन्' से पूर्व 'अ' का 'दीर्घ' यथा 'राजा' और उपधालोप यथा 'राज'।

(5) वर्णलोप—उच्चारण में शीघ्रता करने के कारण ध्वनि (वर्ण) का लोप, यथा—चतुरीय — तुरीय

याचामि — यामि

आत्मन् — त्मन्

अथवा लोक में सत्यभामा का सत्या या कात्यायन का कात्य कहना भी प्रायः यही प्रयत्नलाघव है।

(6) द्विवर्णलोप—दो वर्णों का लोप यथा नि+ऋच=तृच में इ और 'र्' का लोप।

(7) आदिविपर्यय—आदिवर्ण का विपर्यय (उलट जाना) यथा 'जुहोति' में 'होति' के ह का 'ज' या 'हन्' धातु के घन्ति में ह् का 'घ' होना।

(8) आद्यन्तविपर्यय—आद्य और अन्त वर्ण का उलट जाना यथा 'स्तोका' का स्कोता, 'सृज' धातु से 'रज्जु' और कर्त् से 'तर्कु' (तकुआ) हो जाना, इसके उदाहरण हैं।

(9) अन्तविपर्यय या अन्तव्यापत्ति—अन्त में नवीन वर्ण आ जाना यथा ओहः से ओघः, मेहः से मेघः, माहः से माघः और गाहः से गाधः, बहुः से बधुः, मदुः से मधुः।

(10) वर्णोपजन—एकदम नवीन वर्ण का मध्य में आ जाना यथा 'असु' (क्षेपणे) से 'आस्थत्' ('थ' का आगम) 'द्वार' (वृङ् धातु) में 'द' का आगम।

विस्तृत निर्वचन-सिद्धान्त—पद या शब्द में विहित (गुप्त) वर्थ को शब्द से निष्कासित करना (निकालना) ही निर्वचन है। यह निर्वचन पदों के स्वर,

प्रकृति (धातु) और प्रत्यय संस्कार के वास्तविक पदार्थ प्रकाशन में समर्थ विकार द्वारा बताये जाने चाहिये। यह निर्वचन नित्य अर्थ और आख्यात तथा नामरूप के स्वरूप से प्रकट किये जाते हैं। आख्यात के अभाव में अक्षर, वर्ण का सामान्य निर्वचन करें। निर्वचन अवश्य करे (न त्वेव न निर्ब्रूयात्) सदा व्याकरणशास्त्र का ही ध्यान न रखे (निर्वचन सदा व्याकरण द्वारा ही सम्भव नहीं है।) क्योंकि व्याकरण या भाषा की प्रवृत्ति सदा संशययुक्त होती है। वाक्यार्थ को देखकर विभक्तियों का अर्थ निकाला जाये। क्योंकि शास्त्रों का प्रमाण है—'पदार्थानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादिव जायते', (वाक्यपदीय)

'यथा निर्वचनं ब्रूयात् वाक्यार्थस्यावधारणात्' (वायुपुराण) इसीलिये यास्काचार्य ने कहा है—

'नैकपदानि निर्ब्रूयात्' (निरुक्त 2|3)

प्रकरण या वाक्य से पृथक् एकाकी पद का निर्वचन न करें। क्योंकि ऐसे निर्वचन में भ्रम हो सकता है।

यास्क के सिद्धान्त के विपरीत सोचनेवाले तथाकथित वैज्ञानिकब्रुवों ने प्रकरण या वाक्य (प्रसङ्ग) को ध्यान में न रखकर वेदार्थ में अनर्थ किया है, अनेक पाश्चात्य वेदव्याख्यानों में यह अशुद्धियाँ देखी जा सकती हैं, यथा राथ. कीथ मैक्समूलरादि के वैदिकग्रन्थों के अनुवाद यास्क ने शब्दनिर्वचन कम और अर्थ निर्वचन ही अधिक किया है।

द्विप्रकृति (दो धातु) की सम्भावना पर द्वितीय धातु द्वारा अर्थ निकालने का प्रयत्न किया जाय जैसे ऊतिः में अव धातु का सम्प्रसारण है और कुणारुः में क्वण धातु के व को उ का सम्प्रसारण है अतः इस नियम द्वारा निर्वचन किया जाय।

जहाँ लौकिक धातुओं से वैदिकपद बने हों तो वहाँ उनको पहिचाने और जहाँ वैदिक से लौकिक कृदन्त बने हों तो वहाँ वैसा ही निर्वचन करे यथा 'दमूनाः' दम् लौकिक धातु से और घृतम् घृ वैदिक धातु से बना है।

पुनः यहाँ यास्क ने परोक्ष रूप से अतिभाषा का निर्देश किया है, यथा शव धातु कम्बोज (ईरान) में गत्यर्थक है, भारत में शव का अर्थ लाश होता है, इसी प्रकार 'दाति' काटने के अर्थ में प्राच्य (अंगमगधादि) जनपदों में और 'दात्र' उदीच्य (मद्र-पंजाब) जनपदों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार निर्वचन में देशकाल एवं अतिभाषाओं का ध्यान रखना चाहिए।

तद्धित और समासों का निर्वचन खण्ड-खण्ड करके करना चाहिए यथा दण्ड्यः पुरुषः (=दण्डपुरुष) को दण्ड पाने योग्य पुरुष अथवा दण्ड धारण करने योग्य पुरुष, क्योंकि 'दण्ड' शब्द धारणार्थक 'ददाति' धातु से भी बन सकता है, क्योंकि यास्क के समकालीन अक्रूर के लिये लोक में प्रचलित था कि अक्रूर स्यमन्तकमणि धारण करता है—'अक्रूरो ददते मणिम्। इत्यभिभाषन्ते। (निरुक्त 2 । 2)

इसी 'राजपुरुष' समास में राजा शब्द 'राज्' (दीप्तौ) धातु से बना है। प्रकृतिरञ्जन (प्रजारञ्जन) से भी 'राज्' धातु का निर्वचन महाभारतादि में बताया गया है। राजपुरुष का अर्थ है राजा का पुरुष।

यास्क ने 'पुरुष' शब्द के अद्भुत निर्वचन की शौनक ने आलोचना की है—
(बृहद्देवता 2 । 111)

पदमेकं समादाय द्विधा कृत्वा निरुक्तवान्।
पुरुषादः पदं यास्को वृक्षे वृक्ष इति त्वृचि॥

'वृक्षे वृक्षे (ऋ० 10 । 27 । 22) ऋचा में पुरुषादः जैसे एक पद की यास्क ने दो भाग करके (पर्वशः) व्याख्या की है।' यथा—

पुरिशयः। पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।'. (नि० 2 । 3)

पुरिशयः अर्थात् शरीर (ब्रह्माण्ड) में सोने वाला, अथवा पूरयति धातु से अन्दर यह अन्तरपुरुष (परमात्मा) स्थित है—इसके प्रमाण में यास्क ने एक मन्त्र उद्धृत किया है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

शौनकाचार्य की आलोचना अधिक युक्त नहीं हैं, क्योंकि यास्क का निर्वचन मन्त्र के प्रकरण को देखकर 'अन्तर्यामी पुरुष' के लिए था, अतः ऐसा निर्वचन किया, 'पुरुष' शब्द के प्रकरणानुसार और भी निर्वचन हो सकते हैं, यथा 'पुरु' का अर्थ बहुत या मनुष्य भी होता है 'पुरु+सीदति इति पुरुषः' यह भी एक निर्वचन हो सकता है।

'विश्वकद्राकर्षः' का निर्वचन यास्क ने इस प्रकार किया है—'वि' यह और 'चकद्र' यह पुरो भी कुत्सितगति। 'द्राति' कुत्सित गति को कहते हैं 'चकद्राति' यह अनर्थक अभ्यास है, वह है (कुत्सित गति) जिसमें वह (कुत्ता) 'विश्वकद्राकर्षः है। और सम्भवतः हिन्दी का 'कुत्ता' शब्द 'कद्राति' का ही भ्रष्ट रूप है।

निर्वचनसिद्धान्तकथन के उपरान्त यास्काचार्य ने विद्वान् और विज्ञान (विशेषज्ञान) की प्रशंसा की है और बताया है कि निरुक्तशास्त्र अध्ययन का अधिकारी कौन है। जो वैयाकरण विनीत, बहुश्रु, विज्ञानी, अनसूय, मेधावी और तपस्वी हो उसे निरुक्तशास्त्र का उपदेश करना चाहिये। यहाँ पर यास्क ने विद्यासम्बन्धी प्राचीन कुछ श्लोक उद्धृत किये जिससे विद्या का महत्त्व प्रख्यापित होता है, ये श्लोक संहितोपनिषद् (खण्ड 3) मनुस्मृति (अ० 2), वासिष्ठधर्मसूत्र (अ० 2), विष्णुस्मृति (अ० 29, 30) में प्रायः कुछ पाठान्तर से मिलते हैं। विषय गौरव की दृष्टि से उनको यहाँ उद्धृत करते हैं—

> विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
> असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
> य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
> तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह॥
> अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
> यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥
> यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
> यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

'विद्या विद्वान् के पास आई और बोली कि मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारा धन हूं, निन्दक, कुटिल और अजितेन्द्रिय को मुझे मत दो जिससे मैं बलवती होऊँ। जो गुरु सत्यज्ञान से शिष्य के कानों को खोलता है और सुख देते हुए अमृतदान करता है उससे द्रोह न करे और उसे माता पिता माने। जो शिष्य गुरु का मनसा वाचा कर्मणा आदर नहीं करते, उनको विद्या नहीं आती है ब्रह्मन् (विद्वन्)। जिसको तुम पवित्र, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचारी एवं अद्रोही हो, उस विद्यानिधि के रक्षक (शिष्य) को मुझे निस्सन्देह प्रदान करो।'

निर्वचनविद्या की परम्परा

वेदसंहिताओं में निर्वचन के निदर्शन—अर्थनिर्वचन और शब्दनिर्वचन के उदाहरण विद्वानों ने ऋग्वेदादि के मन्त्रों से दर्शाये हैं, कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'अर्चन्त्यर्कमर्चिण'	(ऋ० 1 । 10 । 2)
'मंहते मघम्'	(ऋ० 1 । 11 । 3)
'गृणन्ति गिर्वणसं'	(ऋ० 6 । 34 । 3)
'ऋतुऋॅतुपते यजेह'	(ऋ० 10 । 2 । 1)
'जेषि जिष्णो'	(ऋ० 6 । 45 । 15)

उपर्युक्त मन्त्रों में 'अर्क', 'मघ', गिर्वणस्' 'ऋत्विक्' और 'जिष्णु' शब्दों का निर्वचन क्रमशः 'अर्च', मंह्, गिर यज्, और जि से किया गया है, इन निर्वचनों में अर्थ का प्रकाशन और शब्दव्युत्पत्ति दोनों का ही ज्ञान होता है, 'अर्क' का अर्थ है अर्चनीय या अर्ह (जिसकी स्तुति की जाय) और अर्चिणः का अर्थ है स्तुति करने वाले। मंह् का अर्थ भी 'पूजनीय' 'महान्' यह धनवान् है, इस मंह् से 'मघ' या की निरुक्ति दिखाई है। 'गिर' धातु भी स्तुति या वाणी के अर्थ में है। गिर्वणस् का अर्थ है 'स्तुत देव'। निरुक्त में स्पष्ट किया है कि 'ऋत्विक् कस्मात्। ईरणः। ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति (निरुक्त ३ । 19) 'ऋतु' शब्द 'ऋ' गत्यर्थक धातु में 'तु' (तु × त) प्रत्यय लगाकर बना है, क्योंकि ऋतु या मौसम गतिशील होता है, इसलिये 'ऋतुः' संज्ञा हुई, ऋतु में यजन करने वाला ऋत्विक् (ऋतु + इज्) हुआ।

'जि' (जये) का वैदिक लट् एकवचन, मध्यपुरुष में 'जेषि' रूप है, उससे 'ष्णु' प्रत्यय लगाकर 'जिष्णु' (जयशील) शब्द बना।

शुक्लयजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के मन्त्रों में भी निर्वचन के उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं, निदर्शनार्थ एक-एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा, यथा—

'इन्द्र इन्द्रियं दधातु।' [शु०य० 2। 10)
'गाथं गायतं।' (सा० 446)
'वृश्चामि'''वृक्षम्' (अथर्व 2। 12। ३)

'इन्द्र' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ यास्क ने दर्शाई हैं, जिनका आगे निदर्शन होगा। 'इन्द्र' से 'इन्द्रिय' शब्द बना। 'गा' धातु से गाथ बना। वृश्च का अर्थ है काटना, क्योंकि पेड़ काटा जाता है इसलिए 'वृक्ष' का अर्थ हुआ 'काटा जाने वाला (पेड़),

इसी प्रकार 'श्रृ' से शिरः 'श्रृंग' 'शीर्ष' 'श्रेष्ठ' आदि शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति समझनी चाहिये। क्योंकि इन सब का भाव 'उच्चता' या 'श्रेष्ठता में होता है। 'श्रृ', धातु हिंसार्थक भी है परन्तु एक धातु अनेकार्थक होती है यह भी ध्यान रखना चाहिये।

ब्राह्मणग्रन्थों में निर्वचन-निदर्शन—मन्त्रों में निर्वचन के कुछ विशिष्ट उदाहरण ढूंढे गये है, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में विशेषतः शतपथब्राह्मण में निरुक्तशास्त्र का विस्तार से वर्णन मिलता है, यदि शतपथब्राह्मण सभी निर्वचनों का संकलन किया जाये तो एक पृथक पुस्तक बन सकती है, पं० भगवद्दत्त ने (वैदिक साहित्य का इतिहास, (ब्राह्मण और आरण्यक) भाग 2 में ब्राह्मणग्रन्थों के निर्वचनों का एक अध्याय में संकलन किया भी है।

कुछ निर्वचन द्रष्टव्य हैं—

'पुरान्तरा वा उहदमीक्षम् अभूदिति।
तस्मादन्तरिक्षम्। (श० ब्रा० 7-1-2-23)

पुराकाल (सृष्टि के आदि) में पृथिवी और द्यौ (सूर्यादि) का अन्तर अति स्वल्प था जितना मक्षिका का पंख जितना सूक्ष्म अन्तर यही तथ्य बृहदारण्यकोप

निषद् (३-३-2) में कहाँ है—'यावद्वा मक्षिकाया पत्रं तावानन्तरेणाकाशः।' अतः अन्तरिक्ष का अन्तर ईक्ष (स्पर्श योग्य या देखने योग्य) था अतः उसका नाम 'अन्तरिक्ष' हुआ। अतः ऋतिभाषा या वेदवाक् में सभी नाम वैज्ञानिक और सार्थक थे, उत्तरकाल में अर्थविकार या म्लेच्छीकरण हुआ, जिससे शब्दों की सार्थकता एवं वैज्ञानिकता घटने लगी।

काठक संहिता में 'पृथिवी' और 'भूमि' शब्द की व्युत्पत्ति द्रष्टव्य है—'यद् अप्रथत तत् पृथिवी। यद अभवत् तद् भूमिः (का० सं० 8-2)। जो प्रथित (विस्तृत) हुई वह पृथिवी और जो बहुत बनी (हुई) वह 'भूमि हुई। इसी प्रकार 'पशु' (दर्शक) आदि के निर्वचन हैं। ब्राह्मणों एवं संहिताओं (ब्राह्मणभागों) में निर्वचन के अन्य कुछ प्रसिद्ध उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'यद् गिरयो यदश्मानः। तदेष-उष्णानामौषधिर्जायते'।

(श. ब्रा. ३-४-३-1३)

'यदसर्पत, तत् सर्पिरभवत् यदध्रियत तद् घृतमभवत्।'

(तै. स. 2-३-10-1)

'यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्।' (तै. सं. 1-5-1-1)

'तद यदरक्षंस्तस्माद्रक्षांसि।' (श. ब्रा. 1-1-1-16)

'वृत्वा शिश्ये, तस्माद वृत्रो नाम।' (श. ब्रा. 1-1-३-4)

'गिरि ही अश्मानः (चट्टान) है उनसे (गर्मी-उष्) से औषधि उत्पन्न होती है, अतः 'अश्म से ओषधि पद बना। जो 'सर्पण' (बहता) करता है, उसकी 'सर्पिः' (घी) और जो सूंघा जाता है, या जिसमें गन्ध होती है, वह 'घृतम्' हुआ 'घृत' की व्युत्पत्ति 'घृ' (घर्षण) से भी होती है। जो मेघ या विद्युत रोता (शब्द करता) है; वह 'रुद्र' हुआ, जिन्होंने रक्षा या रोक की वे राक्षस हुये, जो होकर या छाकर (वृत्वा) सो गया या फैल गया इसलिए मेघादि की 'वृत्र' संज्ञा हुई।

ब्राह्मणग्रन्थों में कुछ विचित्र अदभुत एवं अबोधगम्य सी प्रतीत होने वाली व्युत्पत्तियां (निर्वचन) हैं, जिनकी कुछ आधुनिकभाषावैज्ञानिक आलोचना करते हैं—यथा—

'यदब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत तन्मादुषस्य मादुषत्वम्। मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं सन् मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण।'

(ऐ. ब्रा. ३-३३)

'स 3 एव मखः, स विष्णुः। तत इन्द्रो मखवानभवन् मखवान् ह वै तं मघवानित्याचक्षते परोक्षम्।' (श. ब्रा. 14।1।2)

उपर्युक्त ब्राह्मणप्रवचनों में अतिपरोक्षवृत्ति से 'मानुषः' और 'मघवान्' शब्दों का निर्वचन सिद्ध किया गया है। (1।1)

प्रत्यक्ष या अपरोक्षनिर्वचन करना प्रायः सरलकार्य था, इसके विपरीत परोक्ष या अतिपरोक्षवृत्ति का आश्रय या ऊहा किसी साधारण विद्वान् के वश की बात नहीं थी। अतिकठिनविज्ञान को तो अतिविद्वान् ही समझ सकता है 'मन् धातु से मनुः' या सर्प से 'सर्पिः' शब्द की निरुक्ति को तो साधारण विद्वान् भी समझ लेगा, परन्तु मानुष आदि पदों की व्युत्पत्ति समझना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं इसको तो व्यास, श्वेतकेतु, मधुक शाकपूणि और यास्क जैसे अतिविद्वान् ही समझ सकते हैं अतः डा. सिद्धेश्वर[1] और श्री शिवनारायण शास्त्री[2] की यास्कसम्बन्धि आलोचना अवैदुष्यवृत्ति की ज्ञापक है, विद्वत्ता की नहीं।

जब 'मनु' शब्द की निरुक्ति मन से करली (मनोरपत्यम् मनुषो वा।' (निरुक्त 3-7-2); तब 'ष्य' पदांश 'मनु' के साथ क्यों लगा उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक था, जिसको 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' वाक्य द्वारा व्याख्या (अर्थप्रदर्शन) की।

अतः श्री शिवनारायण शास्त्री[3] कृत ब्राह्मणग्रन्थों की यह आलोचना अनुपयुक्त है—'शब्द के मूल अर्थ की चिन्ता न करके अपने प्रतिपाद्य के अनुकूल अर्थ में निर्वचन करना यह आलोचना साधारणबुद्धि का परिणाम है',

1. द्रष्टव्य—दी एटिमॉलाजीज् आफ यास्क (पृ० 97, टिप्पणी।
2. „ —निरुक्तमीमांसा (पृ० 219)।
3. „ — „ (पृ० 2-8)।

क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों और यास्कीयनिरुक्तशास्त्र में निरर्थक आलोचना नहीं है एक शब्द के अनेक अर्थ और अनेक निर्वचन पूर्णतः सम्भव हैं, किसी पद की असामान्य और अतिपरोक्षवृत्ति से निरुक्ति अतिबुद्धि का काम है, अल्पबुद्धि का नहीं।

पूर्वाचार्यों की निर्वचनविद्या का यास्कदर्शित निदर्शन—निरुक्त में यास्क ने केवल अपनी इच्छा से निर्वचन नहीं किये हैं। निर्वचनविद्या की परम्परा अत्यन्त प्राचीन थी, इसके संकेत स्पष्टतः ब्राह्मणग्रन्थों में प्रचुरता से मिलते हैं। यास्क ने लिखा है 'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा' (नि० 13-12) अनृषि या अतपस्वी निर्वचन विद्या को नहीं जान सकता, अतः यास्क स्वयं एक ऋषितुल्य विद्वान् थे उनकी ऊहापोह (विद्वता) अन्य प्राचीन आचार्यों से बढ़ी चढ़ी थी, उन्होंने जिन पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख किया है, वे अधिकांशतः यास्क के प्रायेण समकालीन या कुछ शती पूर्व के ही थे, यथा शाकपूणि, कात्थक्य औपमन्यव, गार्ग्य, गालव आदि।

इतिहासपुराणों के अनुसार निरुक्तादि षड्वेदाङ्गों के आदिप्रवर्तक शिव बृहस्पति, इन्द्र, विवस्वान्, यम आदि आचार्य कृतयुगीन ऋषिगण थे, यथा शिव के विषय में महाभारत में लिखा है—

'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य।' (शान्ति० 284-92)।

इसी प्रकार बृहस्पति के सम्बन्ध में लेख है—

'वेदांगानि बृहस्पतिः' (शान्ति० 112-32)

निरुक्तादि वेदांगों का प्रत्यक्षत उल्लेख ब्राह्मणादि ग्रन्थों में है और इसका निर्वचननिदर्शन पूर्वपृष्ठों में किया जा चुका है।

अतः निरुक्तशास्त्र की परम्परा अतिप्राचीन थी। यास्कोल्लिखित शाकपूणि आदि आचार्य तो अपेक्षाकृत अर्वाचीन थे, इनसे पूर्व बृहस्पति, नारद, इन्द्र, विवस्वान्, वसिष्ठ, वाल्मीकि पराशर आदि निर्वचनशास्त्र रच चुके थे, परन्तु इनके ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध एवं लुप्त हैं।

यास्क ने जिन नैरुक्ताचार्यों के मत प्रदर्शित किये हैं, वे हैं—शाकपूणि,

गालव, औपमन्यव, आग्रयण, आग्रायण, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, कात्थक्य और्णनाभ, कौत्स, क्रौष्टुकि, चर्मशिरा, गार्ग्य, तैटीकि, शाकटायन और शतबलाक्ष मौद्‌गल्य।

इन आचार्यों का संक्षिप्त ज्ञात इतिवृत्त प्रथम अध्याय में लिखा जा चुका है, ये सभी नैरुक्ताचार्य थे, ऐसा भी निश्चित नहीं है, इनमें से कौत्स, वार्ष्यायणि और शतबलाक्ष सम्भवतः नैरुक्त नहीं थे। कुछ आचार्य केवल वैयाकरण हो सकते हैं। जिस प्रकार कृष्णद्वैपायन अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ व्यास थे, एवं पाणिनि अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ आर्य वैयाकरण थे, उसी प्रकार यास्क अन्तिम सर्वश्रेष्ठ आर्य नैरुक्त थे, इसीलिए इनकी कृति अमर हुई।

आचार्य कुलपति शौनक का बृहद्देवता भी निर्वचनविद्या का उत्तम निदर्शन है, इसका भी आगे संकेत किया जायेगा।

शाकपूणि—जिस प्रकार पाणिनि के व्याकरण पर आपिशलि के व्याकरण का सर्वाधिक प्रभाव था, उसी प्रकार यास्क पर शाकपूणि का प्रभाव था। शाकपूणि के पिता का नाम था 'शाकपूण' अतः यह एक अपत्य नाम था। पुराणों में 'रथीतर' नाम से शाकपूणि का उल्लेख है। शाकपूणि रचित निरुक्तशास्त्र भी यास्क के समान नैघण्टुक और दैवतवृत्तों से पूर्ण था। यास्कीयनिरुक्त के समान शाकपूणि निरुक्त का प्रारम्भ भी पृथिवी के 'गौः' आदि इक्कीस नामों से होता था ऐसा दुर्गाचार्य ने संकेत किया है—'शाकपूणिस्तु पृथिवीनामम्य एवोपक्रम्य स्वयमेव सर्वत्र क्रमप्रयोजनमाह' पं० भगवद्दत्त ने स्पष्ट किया है—'हिरण्यगर्भ से सूर्य आदि की अपेक्षा भूमि पहिले पृथक् हुई थी। अतः निघण्टु का आरम्भ पृथिवी नामों से हुआ। अगला सारा क्रम भी कारण विशेष रखता है।' (निरुक्त पृ. 95)। अतः शाकपूणि ने यास्क के समान निघण्टु और निरुक्त रचे थे। इसके निरुक्त की कुछ विशेषतायें पहिले बता चुके हैं।

आचार्य शाकपूणि दैवतविज्ञान के विशेषज्ञ थे, जैसा कि यास्क के निम्न कथन से प्रकट होता है—'शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानानीति। तस्मै देवतोभयलिंगा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ। विविदिषाणि त्वेति सास्मा एतामृचमादिदेश।' (नि० 2-8)

शाकपूणि ने संकल्प किया कि मैं सब देवताओं को जानूँ। उसके लिए देवता उभयलिंग प्रकट हुई। वह देवता का स्वरूप नहीं जान सका, तब उसने कहा—हे देवते ! मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ। तब देवता ने उसे ऋचा का निर्देश किया। 'भाव यह है कि देवता का स्वरूप ऋचा से ही ज्ञात होता है तथा शाकपूणीय निरुक्त में दैवतविज्ञान का विशिष्ट वर्णन था।

यास्क ने शाकपूणि के मतों का चौबीस बार उल्लेख किया है जिनमें ग्यारह मत दैवतविज्ञान से सम्बन्धित हैं और शेष तेरह भाषा विज्ञान से।

यथा 'अग्निः' की निरुक्ति के सम्बन्ध में शाकपूणि का मत द्रष्टव्य है—'त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः। इतात्। अक्तात्। दग्धाद्वा नीतात्' 'शाकपूणि इण्' (गति), 'अञ्ज' (या दह्) और 'नी' (लेजाने) से 'अग्निः' शब्द की व्युत्पत्ति मानता है।'

अग्नि देवता सम्बन्धी शाकपूणि का मत द्रष्टव्य है—'तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः।' (नि० 7-38)।

'अग्नि के तीन रूप हैं पृथिवी पर (साधारण) अग्नि, अन्तरिक्ष में (विद्युत्) और द्युलोक में (सूर्य) रूप।' इसी प्रकार मत और द्रष्टव्य है—

'नाराशंस अग्निरिति शाकपूणिः। नरैः प्रशस्यो भवति।' (नि० 8-6)

इत्यादि यास्कोक्त शाकपूणि-मत द्रष्टव्य हैं।

गालव—इनके मत का उल्लेख यास्क ने केवल एक स्थल (4-3) पर किया है—'शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः'—'श्वेतमांस मेद से' यह शितामत' की व्याख्या करते हुए लिखा है।

तैटीकि—यहीं (4-3) पर और बीरिट (नि० 5-28) की व्याख्या के सम्बन्ध में तैटीकि आचार्य का मत यास्क ने लिखा है—'श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः (नि० 4-3) और 'बीरिट तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह' (नि. 5-28)

गार्ग्य—इनका उल्लेख तीन स्थलों पर किया गया है—उपसर्गों के सम्बन्ध में, प्रथम 'उच्चावचा-पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः' (नि. 1-3), नाम आख्यात सम्बन्ध में; द्वितीय—'न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके' (नि. 1-12)

तथा तृतीय उपमा सम्बन्धी—'अथात उपमाः । यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः ।
(नि. 3-13)

कौत्स—'क्या मन्त्र अनर्थक है ?' इस प्रकरण में यास्कोक्त कौत्समत लिखा जा चुका है, यह आचार्य सम्भवत नैरुक्त नहीं था, क्योंकि निरुक्त विरोधी था । यह जैमिनि सदृश स्यात् मीमांसक ही था ।

आग्रयण—इसका मत यास्क ने इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल एक बार किया है । आग्रयण के अनुसार 'इन्द्र' शब्द की निरुक्ति 'कृ' धातु से इस प्रकार है—'इदम्+कृ=इदङ्करः=इन्द्रः इदं करणादिति आग्रयणः ।'
(नि. 10-8)

आग्रायण—आग्रयण और आग्रयण दोनों एक ही थे या पृथक्-पृथक् यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, 'अग्र' का अपत्य (पौत्र या वंशज) आग्रायण हुआ । कर्ण शब्द की व्युत्पत्ति आग्रायण ने ऋच्छ से मानी है—'ऋच्छतेरिति आग्रायणः' (नि. 1-9) ।

औपमन्यव—यह उपमन्यु का अपत्य (पुत्र) था । इसने यास्क और शाकपूणि के समान निश्चयपूर्वक एक 'निरुक्तशास्त्र' का प्रणयन किया था । यास्क ने द्वादशस्थलों पर औपमन्यव के निरुक्त से मत उद्धृत किये हैं, इन सब मतों को उद्धृत करना आवश्यक नहीं है, केवल एक महत्वपूर्ण उद्धरण द्रष्टव्य है काक 'कक इति शब्दानुकृतिः । तदिदं शकुनिषु बहुलम् । न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः ।' (नि. 3-18) ।

'काक (पक्षी) के बोलने की ध्वनि का अनुकरण है । यह पक्षिनामों में बहुधा पाई जाती है, औपमन्यव के मत में 'काक' शब्द में भी शब्दानुकृति नहीं है । पञ्चजन शब्द के सम्बन्ध में आचार्य शौनक ने यास्क तथा औपमन्यव का मत उद्धृत किया है—

यास्कौपमन्यवावेतान् आहतुः पञ्च वै जनान् । (बृहद्० 7-68-69)

यास्क ने लिखा है—

'चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः ।' (नि. 3-8)

औदुम्बरायण—यास्क ने केवल एक बार इनके मत का नामतः उल्लेख किया है—'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः" (नि. 1।1) यह उदुम्बर का पौत्र था, इसका पिता था—'औदुम्बरि'। औदुम्बरायण शब्द को विभाग रहित अर्थात् अखण्ड मानता था, अतः इन्द्रियनित्यवचनमात्रकथन से यह नहीं समझना चाहिये कि आचार्य शब्द को नित्य नहीं मानते थे। यास्क ने औदुम्बराण का अन्य कोई मत उद्धृत नहीं किया है।

वार्ष्यायणि—इनका उल्लेख षड्भावविकारों के सम्बन्ध में किया जा चुका है, इन्होंने निरुक्तशास्त्र रचा था या नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु भाषासम्बन्धी कोई ग्रन्थ अवश्य रचा था, यह निश्चित है, पतञ्जलि ने महाभाष्य में भी इनके इस मत का उल्लेख किया है।

शाकटायन—धातुजनामसिद्धान्त आदि के सम्बन्ध में इनका पहिले ही यास्कोक्त वर्णन किया जा चुका है, यह भी अपत्य नाम था।

और्णनाभ—यास्क ने निरुक्त में इनका पांच स्थलों पर उल्लेख किया है उर्वी नासत्य, होतृ, अश्विनौ और 'त्रेधानिदधे पदम्' मन्त्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में इनका मत उल्लिखित है। और्णनाभ निश्चय ही नैरुक्त आचार्य थे।

स्थौलाष्ठीवि—यास्क ने 'वायु' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में इनका मत लिखा है—'एतेरिति स्थौलाष्ठीवि':, अनर्थको वकारः।" (नि० 10।1), 'वायु' √इण् के 'एति' रूप से बना है, ऐसा स्थौलाष्ठीवि का मत है। वकार अनर्थक है। यह निर्वचन विचित्र होते हुये भी सार्थक है। द्वितीयस्थल (नि. 7।14) पर भी इनका नामोल्लेख है।

कात्थक्य—यास्क ने दैवतविज्ञानसम्बन्धी इनके मत (निरुक्त 8।5, 6 इत्यादि पर) उद्धृत किये हैं। इन्होंने निश्चय ही निरुक्त का प्रणयन किया जिसमें दैवतविज्ञान का विशिष्ट वर्णन होगा। इनके कुछ मत द्रष्टव्य हैं—

'यज्ञेध्म इति कात्थक्यः' (नि. 8।5)
'तनूनपात् आज्यमिति कात्थक्यः' (नि. 8।5);
'नाराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः' (नि. 8।6);
'गृहद्वार इति कात्थक्यः;, (नि. 8।10)

इन वचनों से कात्थक्य नैरुक्ताचार्य सिद्ध होता है। यह कत्थक-का पुत्र था।

क्रौष्टुकि—इनका उल्लेख निरुक्त (8।2) में इन्द्र के पर्याय 'द्रविणोदा:' पद की व्याख्या के प्रसङ्ग में किया गया है, इन्द्र अग्नि का भी एक नाम था' यह आगे लिखा जायेगा।

चर्मशिरा—'विधावानाहेति चर्मशिरा:' (नि. 3।15) में यास्क ने विधवा शब्द का निर्वचन बताते हुये इन आचार्य का उल्लेख किया है, विधवा का अर्थ हैद 'इधर-उधर दौड़ने वाली' अतिभाषा का यह पद विडो (अंग्रेजी), विधवा (पारसी), विदुआ (लैटिन) आदि रूपों में मिलता है।

शाकपूणिपुत्र—निरुक्त (13।11) में इसका उल्लेख है।

कुलपति शौनकाचार्य—शौनक नाम के अनेक आचार्य थे, क्योंकि यह एक प्राचीन भार्गववंशान्तर्गत गोत्रनाम था। यह आचार्य बह्वृच और कुलपति था, जिसने बृहद्देवता आदि दश ऋक्परिशिष्टग्रन्थ लिखे। आश्वलायन और कात्यायन इसी के शिष्य थे। इसी आचार्य को 'कुलपति' संज्ञा से विभूषित किया गया, क्योंकि इन्होंने अनेक दीर्घसत्र किये थे, इनका अन्तिम दीर्घसत्र पाण्डववंशीय राजा अधिसीमकृष्ण के समय (2800 वि० पू०) हुआ था।

अधिसीमकृष्णे विक्रान्ते राजन्येऽनुपमत्विषि।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रं तु ईजिरे॥ (वायुपुराण 1।13।15)

शौनक का एक यज्ञ जनमेजय पारीक्षित् (80 कलिसम्वत्) के समय में भी हुआ। यदि दोनों शौनक एक ही हैं तो शौनक (कुलपति) को दीर्घजीवी (न्यूनतम 300 वर्ष मानना पड़ेगा, अन्यथा शौनकवंश में इस नाम के अनेक आचार्य थे ही।

कुलपति शौनक यद्यपि यास्काचार्य से उत्तरवर्ती थे, परन्तु बृहद्देवताग्रन्थ में इनके निर्वचनविद्यासम्बन्धी निदर्शन हैं, अत: इनका नैरुक्ताचार्यों के साथ उल्लेख अनिवार्य है। व्यास के अनन्तर शौनक वेदविद्या के सबसे बड़े स्तम्भ थे, यास्क से शौनक के समय का एक या डेढ़ शती का अन्तर था आधुनिकग्रन्थों में प्राय: कुलपति शौनक का इतिवृत्त नहीं लिखा जाता, अत

कुछ अधिक विस्तार से इनका वृत्तान्त यहाँ लिखा जा रहा है।

जनमेजय के सर्पसत्र के समय रोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवा सौति ने नैमिषारण्य में कुलपति शौनक के दीर्घसत्र में ऋषियों को महाभारत की कथा सुनाई थी, इस प्रसङ्ग में महाभारत (1।4।5-6) में शौनक के विषय में लिखा है—

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंश्रिताः।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः॥
स चाप्यस्मिन् मखे सौते विद्वान् कुलपतिर्द्विजः।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्छास्त्रे चारण्यके गुरुः॥

अर्थ स्पष्ट है। कुलपति शौनक प्राचीन पञ्चजन इतिहास के विशेषवेत्ता थे, यह उनके ग्रन्थ बृहद्देवता से ही सिद्ध है। ऐतरेयारण्यक का पञ्चम अध्याय शौनकरचित है, अतः वे आरण्यकगुरु भी थे। शौनक का वास्तविक नाम मुण्डक था, इन्हीं के नाम से मुण्डकोपनिषद् प्रसिद्ध हुई। शौनक सर्वशास्त्र-विशारद थे—

नैमिषारण्ये कुलपतिः शौनकस्तु महामुनिः।
सौतिं पप्रच्छ धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः॥ (महा॰ 1।1।4)।

इन्होंने दीर्घसत्र में ही ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवचन किया था—

शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तुदीक्षितैः।
दीक्षासु चोदितःप्राह सत्रे तु द्वादशाहिके॥

बृहद्देवता में निर्वचनविद्या—यास्क और शौनक के निर्वचनों में प्रायः साम्याधिक्य ही है। भेद स्वल्प हैं। बृहद्देवता मुख्यतः देवतविज्ञान का ग्रन्थ है, इसमें व्याकरण और निरुक्त का प्रसङ्ग देवविद्या के सम्बन्ध में ही है। शौनक ने मुख्यतः कर्मनाम, संज्ञा, क्रिया, वाक् देवनामनिर्वचन, उपसर्ग, निपात, सर्वनाम, शब्द, पद, समास, अर्थ आदि के विषय में समासव्यास रूप से उच्चावच कथन और व्याख्यान किया है, इस सब की चर्चा साररूप से यहाँ करते हैं, इससे पूर्व यास्क और शौनक के निर्वचनों में साम्य के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

	यास्कनिर्वचन (निरुक्त)	शौनकनिर्वचन (बृहद्देवता)
(1)	यद् अरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम्, यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रविकम् । (10।5)	अरोदीद् अन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन् नृणाम्, चतुर्भिर्ऋषिभिस्तेन रुद्र इत्यभिसंस्तुतः । (2।34)
(2)	पर्जन्यस्तर्पयिता जन्यः; परो जेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम् । 10।10)	तर्पयत्येष यल्लोकञ्जन्यो जनहितश्च यत् । परोजेता जनयिता यद्वाग्नेयस्ततो जगौ । (2।38)
(3)	मृत्युर्मारयतीति सतो मृतं च्यावयतीति वा ॥ (1।6)	यत्तु प्रच्यावयन्नेति घोषेण मृतम् । तेन मृत्युमिमं सन्तं स्तौति मृत्युरिति स्वयम् । (2।60)
(4)	अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति । अथ उपमार्थे कर्मोपसङ्ग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः । (1।4)	उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात् ॥ (2।89)
(5)	त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्ताः, त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः । (8।13)	त्विषितस् त्वक्षतेर् वा स्यात्, तूर्णमश्नुत एव वा कर्मसुत्तारणो वेति । (3।16)
(6)	शुनो वायुः (शु एत्यन्तरिक्षे) सीर आदित्य सरणात् । (9।40)	वायुः शुनः सूर्य एवात्र सीरः, शुनासीरौ वायुसूर्यौ वदन्ति ॥ (5।8)

शौनक ने मधुक पैङ्गय, श्वेतकेतु, गालव तथा नैरुक्तों एवं पुराण कवियों (वैयाकरणों) के प्रमाण से लिखा है कि नौ कर्मों (निवासादि) से नामों (संज्ञाओं) की उत्पत्ति होती है, इस सिद्धान्त का पूर्व सविस्तार उल्लेख किया जा चुका है, शौनक के स्वतः मत से सभी नाम कर्म से ही उत्पन्न होते हैं—

'सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः', (बृ० 1।27) शौनक ने यास्क के समान पदों के चार विभाग—आख्यात, नाम, उपसर्ग और निपात माने हैं (बृ० 1।39), भूत, भव्य (वर्तमान) और भविष्य काल तथा पुल्लिग, स्त्रीलिंग व नपुंसकलिंग का निर्देश किया है।

द्रव्य का नाम 'संज्ञा' है, आठ विभक्तियाँ हैं, जिनमें वचन और लिंग का भेद होता है। शौनक ने नाम और आख्यात दोनों को ही भावप्रधान कहा है, विशेष कृदन्त से निष्पन्न नाम भावप्रधान होता है, वही द्रव्य (संज्ञा) है।

शौनक ने 'अर्थ' को प्रधान और शब्द को उसके अधीन माना है—

'प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते', (बृ० 2।99)।

अर्थ से पद और उसकी अभिधा उत्पन्न होती है, पद से वाक्य के अर्थ का निर्णय होता है, वाक्य पदसमूह, पद वर्णसमूह है।

शौनक ने यास्क के समान ही निपातों और उपसर्गों का कथन किया है, उन्होंने अच्छ, श्रत् और अन्तः—इन तीन उपसर्गों को शाकटायन के मत से अधिक माना है। निर्वचन करते समय लिङ्ग, धातु और विभक्ति का संनमन (ग्रहण) करना चाहिये। पद का पञ्चधा का निर्वचन करना चाहिये, धातु से, धातुरूप से, समस्तार्थज पद से, वाक्य से और व्यतिकीर्ण (अस्तव्यस्त) से। वाक्यज का प्रसिद्ध उदाहरण है—इति+ह+आसः=इतिहासः।

शौनक ने द्विगु, द्वन्द्व, अव्ययीभाव, कर्मधारय, बहुव्रीहि और षष्ठी तत्पुरुष-समास का उल्लेख किया है।

शौनक ने यास्क के कुछ निर्वचनों की आलोचना भी की है, यथा, 'पुरुषादः' पद की विभक्ति करके व्याख्या और 'अरुणोमासकृत्' जो अनेक पद हैं, एक पद के रूप में व्याख्या की है।

शौनक ने लोप का उदाहरण दिया है—(एक, दो या बहु वर्ण या व्यञ्जन का लोप) यथा—वृषाकपिः का कपिः, याचामि का यामि और मघासु का अघासु रूप। वार्ष्यायणि-कथित षड्भावविकारों का भी उल्लेख है। शौनककृत एक-दो निर्वचन द्रष्टव्य हैं—

त्रीणीमान्यावृणोत्येको मूर्तेन तु रसेनयत् । तथैनं वरुणं शक्त्या स्तुतिष्वाहुः कृपण्यवः ।

इरां वृणाति यत्काले मरुद्भिः सहितोऽम्बरे । रवेण महता युक्तस्तेनेन्द्रमृषयोऽब्रुवन् ॥

(बृ० 2।33।36) ; इन श्लोकों में 'वरुण' और 'इन्द्र' पदों का क्रमशः निर्वचन है ।

शौनक मत में दुष्करकर्मा भी निर्वचन विद्या से वेदार्थ जानकर परमपद प्राप्त कर सकता है—'इति नानान्वयोपायैर्नैरुक्ते यो यतेत सः ।

जिज्ञासुर्ब्रह्मणो रूपमपि दुष्कृत् परं व्रजेत् ॥ (बृ० 2।119)

अध्याय—चतुर्थ

निरुक्तव्याख्यासम्प्रदाय और मन्त्रों में इतिहास

प्राचीनकाल में वेदमन्त्रों के व्याख्यान की अनेक पद्धतियाँ थीं। प्राचीन मीमांसक मन्त्र और ब्राह्मण (आरण्यक-उपनिषद् सहित)—दोनों को ही वेद मानते थे,[1] आपस्तम्ब जैसे प्राचीन सूत्रकार 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र के अनुसार ब्राह्मणभाग को भी समान रूप से वेद मानते थे, क्योंकि जिन ऋषियों (विवस्वान्, इन्द्र, यम, वसिष्ठ, अपान्तरतमा) ने ब्रह्म (मन्त्र) के दर्शन किये, उन्हीं ने ब्राह्मण (मन्त्रव्याख्या) लिखी परन्तु श्री दयानन्द स्वामी[2] और उनके अनुयायी ब्राह्मणादि में तो इतिहास मानते हैं, परन्तु मन्त्रों में किसी प्रकार के इतिहास का प्रत्याख्यान करते हैं, इसके लिये वे अनेक प्रकार के तर्क देते हैं, (जिनका आगे सङ्केत करेंगे), आर्यसमाजियों द्वारा

(1) मीमांसकों ने ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित इतिहासों को समान माना है, ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्रों का ही व्याख्यान है। उनके लिये मन्त्र और ब्राह्मण का समान प्रामाण्य है।

(2) उदाहरणार्थ पं० युधिष्ठिर मीमांसक के गुरु पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने लिखा है—

अन्त में हम एक बात कह देना आवश्यक समझते हैं कि निरुक्त के सभी स्थल हमने पूर्णरीति से जान लिये हैं, यह बात नहीं है। हाँ ऐतिहासिक पक्ष के विषय में हमें कुछ भी सन्देह नहीं। अन्य विषय के कुछ स्थल विचारणीय अवश्य हैं।'' (निरुक्तकार और वेद में इतिहास, पृ० 58-59)।

मन्त्रों में इतिहास के इस प्रकार प्रबल प्रत्याख्यान से उनेक मन के चोर (शङ्का) की पुष्टि होती है कि वे स्वयं अपने मत से हार्दिक सन्तुष्ट नहीं हैं, वे केवल पूर्वाग्रह के कारण प्रकट में मन्त्रों में इतिहास नहीं मानते। पं० भगवद्दत्त जी भी वेदों (मन्त्रों) में इतिहास नहीं मानते थे[1] जबकि स्वयं उन्होंने वात्स्यायन के मत से यह मत प्रबल रूप से प्रस्थापित किया कि, मन्त्र, ब्राह्मण, इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेद आदि के रचयिता ऋषि समान थे—'य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्यचेति ।' (न्यायभाष्य 4।6।62।

"य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्" (न्यायभाष्य 2।2।67) ।

जब मन्त्रों के द्रष्टा ही वेदार्थ (ब्राह्मणों) और इतिहास पुराणों के कर्त्ता थे तो वे अपना व्याख्यान (वेदार्थ-ब्राह्मण ग्रन्थ) असत्य क्यों लिखते। और ब्राह्मणग्रन्थों में मानवीय इतिहासों का इतना बाहुल्य है कि आर्यसमाजी कोई भी विद्वान् इसके अपलाप या प्रत्याख्यान का साहस नहीं कर सकता।

पाश्चात्य लेखकों के वेदव्याख्यान अत्यन्त दूषित, भ्रामक और अज्ञान से पूर्ण हैं, परन्तु कुछ भारतीय विद्वान् एक ओर तो यास्क के तथाकथित मत से मन्त्रों में इतिहास नहीं मानते और दूसरी ओर पाश्चात्य मतों में पूर्ण श्रद्धा रखते हैं, उदाहरणार्थ श्री शिवनारायण शास्त्री ने स्वरचित निरुक्तमीमांसा के 'देवविद्या' सम्बन्धी अध्यायों में पाश्चात्य भाषामतों में पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की है, यह अनिश्चित और अस्तव्यस्त विचारधारा है।[2]

(1) आर्यसमाजी विद्वान्—वेदमन्त्रों की चार शाखाओं को मूलवेद मानते हैं और उन्हें ईश्वररचित मानते हैं, इसका ज्ञान उन्हें कैसे हुआ, परमात्मा जाने।

(2) आर्यसमाजी विद्वानों के पूर्वाग्रह का मूल कारण यह है कि उन्होंने मन्त्रों को ईश्वररचित मान लिया है, जबकि स्वयं मन्त्रों में ही उनके द्रष्टा ऋषिगण बताये गये हैं। आर्यसमाजियों की दृष्टि में ईश्वररचित ग्रन्थ में ऐतिहासिक नाम नहीं आ सकते। उनका ईश्वर इतना अज्ञानी क्यों है कि वह भूत, भव्य और भविष्य का इतिहास नहीं जाना जा सकता। प्राचीनमीमांसक (जैमिनि, शबरादि) मन्त्रब्राह्मणात्मकवेद को अपौरुषेय (ईश्वररचित भी नहीं) मानते हुये उसमें त्रैकालिक इतिहास मानते हैं।

यास्काचार्य के समय वेदमन्त्रव्याख्यान (निरुक्त) की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं, जिनका उल्लेख उन्होंने निरुक्त में किया है। वे पद्धतियाँ थीं—(1) आध्यात्मिक (2) आधिदैविक (3) आख्यानसमय (4) ऐतिहासिक (5) नैदान (6) नैरुक्त (7) परिव्राजक (8) पूर्वयाज्ञिक और (9) याज्ञिक।
लेकिन यह ज्ञातव्य है कि सभी (प्रत्येक) वेदमन्त्रों की उक्त नौ प्रकार से व्याख्या नहीं हो सकती। बहुत थोड़े ही मन्त्र हैं, जिनकी एकाधिक पद्धति से व्याख्या हो सकती है जैसा कि यास्क ने निरुक्त के त्रयोदश और चतुर्दश अध्यायों में प्रदर्शित किया है।

यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि किसी पद की नैरुक्तपक्ष से व्याख्या करने से उस नाम वाले ऐतिहासिक व्यक्ति के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। यास्क (उससे पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों एवं पूर्वाचार्यों) ने पद की केवल भाषा वैज्ञानिक व्याख्या (प्रकृति प्रत्यय) और अर्थनिरुक्ति की है। उदाहरणार्थ राम, दशरथ, सुग्रीव और विभीषण—पदों की इस प्रकार व्याख्या की जाय कि 'रम्' धातु से घञ् प्रत्यय से 'राम' शब्द बना (रमन्ते योगिनो यस्मिन्न् इति रामः), दशरथ (दशइन्द्रियवाला) मनुष्य, सुन्दर ग्रीवा वाला प्राणि=सुग्रीव, भयंकर रूप वाला=विभीषण इसी प्रकार कृष्ण, अर्जुन, विराट्, द्रुपद आदि पदों के निर्वचन किये जा सकते हैं। अतः निरुक्ति से ऐतिहासिक पुरुष का अस्तित्व नहीं मिटाया जा सकता और न यह समझना चाहिये कि अमुक व्यक्ति से पूर्व यह पद था ही नहीं, यथा अयोध्या के राजा दशरथ से पूर्व यह (दशरथ) पद था ही नहीं, यह मानना भी यह भ्रान्ति है यही बात इन्द्र, वृत्र, विष्णु, अदिति, आदित्य, विश्वामित्र, वसिष्ठ, कश्यप, वेन, जमदग्नि आदि सहस्रों पदों के सम्बन्ध में समझनी चाहिये, मनुस्मृति के निम्न श्लोक का भाव यही है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

'वेद शब्द' का अर्थ है नित्य शब्द (अतिभाषा के)। इन्द्र, आदित्य, विष्णु, यम, आदि शब्दों के अनेक अर्थ हैं परन्तु इन नामों के एक-एक (या अनेक) प्रसिद्ध व्यक्ति हो चुके हैं, उनका भी किसी मन्त्र में उल्लेख हो सकता है।

यास्कोल्लिखित ऐतिहासिक, नैदान और आख्यानसमय पद्धतियाँ स्वल्प भेद से समान ही थीं, इन पद्धतियों में मन्त्रगत इतिहास पर जोर दिया जाता था। परिव्राजक और आध्यात्मिक—ये दोनों दार्शनिक पद्धतियाँ थीं। आधिदैविक अर्थ प्रसिद्ध है। आधियाज्ञिक अर्थ विनियोग की दृष्टि से किये जाते थे। मूलमन्त्रों की रचना यज्ञार्थ हेतु नहीं थीं। ये मन्त्र तो उसी प्रकार थे जिस प्रकार कोई कवि विशिष्ट अवसर पर काव्यपाठ करे, उसी प्रकार मन्त्र विभिन्न प्रकार से उत्पन्न प्राचीन ऋषियों का काव्य था। पुराणों में ऋषियों द्वारा मन्त्र प्रादुर्भाव के निम्न पाँच कारण बताये हैं—

ऋषीणां तप्यतामुग्रं तपः परमदुष्करम् ।
मन्त्राः प्रादुर्बभूवुर्हि पूर्वमन्वन्तरेष्विह ।
असन्तोषाद्भयाद् दुःखात् सुखाच्छोकाच्चपञ्चधा ।
ऋषीणां तपः कात्स्न्र्येन दर्शनेन यदृच्छया ।।

असन्तोष, भय, दुःख, सुख और शोक के कारण तप, दर्शन या स्वेच्छा से मन्त्र बनाये गये।

बृहद्देवता (1।35-39) में आचार्य शौनक ने मन्त्रदर्शन और अनेक कारण बताये हैं—यथा (1) स्तुति (2) प्रशंसा (3) निन्दा (4) संशय (5) परिदेवना (6) स्पृहा (7) आशीः (8) कत्थना (9) याञ्चा (10) प्रश्न (11) प्रैष (12) प्रवह्लिका (13) नियोग (14) वियोग (15) अनुयोग (16) संलाप (17) पवित्राख्यान (18) कामना (16) नमस्कार (20) प्रतिराध (21) संकल्प (22) प्रलाप (23) उत्तर (24) प्रतिषेध (25) उपदेश (26) प्रमाद (27) अपह्नव (28) आमन्त्रण (29) संक्षोभ (30) विस्मय (31) आक्रोश (32) अभिष्टव (33) आक्षेप और (34) शाप।

शौनकादि द्वारा मन्त्ररचना के इतने कारण बताये जाने पर मन्त्रों को ईश्वररचित या अपौरुषेय मानकर उनमें इतिहास का प्रत्याख्यान करना स्वस्थबुद्धि का काम नहीं है। निरुक्त और बृहद्देवता में अनेक सूक्तों और मन्त्रों के रचे जाने की घटना (कालक्रमादि) का अनेकधा: निर्देश किया है, यथा—

'देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम्'
(निरुक्त 11।25)

'त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ (निरुक्त)

सरमा और कूपस्थ त्रित को मन्त्रों का दर्शन हुआ, इसी प्रकार बृहद्देवता में श्यावाश्व की कथा (5 अ०) है कि पहिले वह मन्त्रद्रष्टा (कवि) नहीं थे, मन्त्ररचना करके राजा रथवीति की कन्या से विवाह किया—

श्यावाश्वस्य मनस्यासीन्मन्त्रस्यादर्शनादहम् ।
न लब्धवानहं कन्यां हन्त सर्वाङ्गशोभनाम् ।
अप्यहं मन्त्रदर्शी स्यां भवेद्धर्षो महान्मम ॥

ऋग्वेद में अनेक संवादों और दानस्तुतियों का ऐतिहासिक अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ हो ही नहीं सकता ।

यास्क द्वारा ऐतिहासिक पक्ष का समर्थन—यास्काचार्य ने नैरुक्तनिर्वचन करते हुये भी मन्त्रों में इतिहास का पूर्ण समर्थन किया है । इतिहासपुराणों में उल्लिखित इन्द्र, विष्णु, यम, पुरूरवा, उर्वशी, वृत्रासुर आदि का ऐतिहासिक स्वरूप यास्क को भली-भाँति ज्ञात था । यद्यपि ब्राह्मण में यह प्रत्याख्यान किया है कि इन्द्र या देवासुरयुद्ध मंत्रों में ऐतिहासिक नहीं है—

'स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिः (बृ०उ० 6।3।9)

'मेघ ही इन्द्र है, यज्ञ ही प्रजापति है' और इसी उपनिषद् के रचयिता वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने लिखा है—'तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्देवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्' (श०ब्रा० 11।1।6।9) 'मंत्र में उस देवासुर युद्ध का वर्णन नहीं है, जो इतिहास में वर्णित है ।' स्वयं मंत्र में यही बात कही गई है—

न त्वं युयुत्से कतमच्चनाह न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति ।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रून्ननु पुरा युयुत्से ॥ (ऋग्वेद)

'हे इन्द्र ! न तुमने किसी से युद्ध किया और न मघवन् । तुम्हारा कोई शत्रु है । जो युद्ध कहे जाते हैं, वे सब माया हैं, तुम शत्रुओं से पूर्वकाल में लड़े नहीं ।''

ऋग्वेद और शतपथब्राह्मण के उक्त उल्लेखों से यह भाव स्पष्ट निकल रहा है कि मायायुद्धों एवं दिव्य इन्द्र के अतिरिक्त ऐतिहासिक देवासुर संग्राम और ऐतिहासिक इन्द्र भी निश्चयपूर्वक हुये थे, परन्तु उनका मन्तव्य यह है कि मंत्र में सर्वत्र ऐतिहासिक वर्णन ही नहीं है, परन्तु उसकी छाया अवश्य है, जैसा कि यास्क ने अनेकत्र माना है—'तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति', (नि० 4।6)। "मंत्र, इतिहासमिश्रित, ऋङ्मिश्र और गाथामिश्र होते हैं।" यास्क ने यह भी लिखा है कि "आख्यानसंयुक्त मंत्रार्थ (पदार्थ) कहने में ऋषि को प्रीति (आनन्द) होती है।" "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता", (नि० 10।10)। भला जहाँ ऋषि को मंत्र में इतिहास कहने से प्रीति या आनन्द मिलता हो, वहाँ यह मानना कि मंत्रों में इतिहास नहीं है, कितनी विडम्बना है।

कुछ विद्वान् प्राकृतघटनाओं या प्राकृतिक नदी पर्वत आदि का वर्णन मंत्रों में मानते हैं, यथा सूर्य, चन्द्रमा, हिमालय, गङ्गा-यमुना या गोधूम सोम आदि, या सिंह वराह, मृग, अश्व आदि। क्या ये पदार्थ ऐतिहासिक नहीं होते ? नदी-पर्वत या पशु-पक्षियों की आयु होती है, जिसकी आयु निश्चित होती है, वह निश्चय ही ऐतिहासिक है, जब अज ईश्वर भविष्य के मानवीय इतिहास को नहीं जान सकता था तो वह भविष्य में उत्पन्न होने वाली प्राकृतिक वस्तुओं को कैसे जान गया कि वे सृष्टि में मेरे वेद रचने के पश्चात् उत्पन्न होंगी। क्योंकि आर्यसमाजियों के अनुसार वेद में मानव इतिहास मानने का, प्रमुख तर्क यही है कि ईश्वर ने वेद जगतसृष्टि से पूर्व रचे। जो ईश्वर सृष्टि से पूर्व वेद रच सकता था, पुनः इतने विशाल ब्रह्माण्ड को बना सकता था और सभी भावी प्राकृतिक पदार्थों के नाम जान सकता था, परन्तु भावी मनुष्यों के नाम नहीं जान सकता था, आर्यसमाजियों की बुद्धि पर तरस आता है उनके तर्क कितने लचर, अज्ञानपूर्ण एवं विचित्र हैं।

सत्य यह है कि मंत्रों की रचना मानवीय ऋषियों ने की और विभिन्न कालों में की, वेदमंत्रों का उपलब्ध रूप शाश्वत नहीं है, एक ही मंत्रसंहिता के अनेक पाठों (शाखाओं) से यह सिद्ध होता है।

कुछ विद्वान्—'प्राणो वै वसिष्ठः', (श०ब्रा० 8।1।1।6)
'मनो वै भरद्वाजः', (श०ब्रा० 1।1।1।9)
'श्रोत्रं वै विश्वामित्रः', (श०ब्रा० 8।1।2।6)
'चक्षुर्वै जमदग्निः', (श०ब्रा० 8।1।2।3)

इन वचनों के आधार पर वसिष्ठादि की ऐतिहासिकता का अपलाप करते हैं। यदि वसिष्ठ नाम के ऐतिहासिक ऋषि नहीं थे तो पाराशर्य व्यास और विश्वामित्र के वंशज याज्ञवल्क्य कहाँ से आये, जिन्होंने अनेक वैदिक ग्रन्थ रचे।

मन्त्रों में ऐतिह्यनिदर्शन—ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ मंत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें अकाट्य रूप से ऐतिहासिक पुरुषों और घटनाओं का उल्लेख है—

निम्न मंत्र में अजीगर्तपुत्र शुनःशेप का नाम स्पष्टतः ही उल्लिखित है—

"शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सोऽस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु";
(ऋग्वेद 1।24।12)

"गृहीत शुनःशेप ऋषि ने जिसको पुकारा वह राजा वरुण हमको मुक्त करे।"

निम्न मन्त्र में दैत्य इलीबिश के वध का उल्लेख है—

'न्याविध्यदिलीबिशस्य दृढा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः'
(ऋ० 1।33।12)

'इन्द्र ने इलीबिश के परमबल का नाश किया।'

यहूदी और अरबी ग्रन्थों में इसी को इबलीस कहते हैं।[1]

निम्न मंत्र में नहुष, आयु और इला का स्पष्ट निर्देश है—

त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन् नहुषस्य विश्पतिम्।
इलामकृण्वन् मनुषस्य शासनीम् (ऋ० 1।31।2)

अहि (वृत्र), पर्वत, त्वष्टा और वज्र का ऐतिहासिक उल्लेख—

(1) द्र० भारतवर्ष का बृहद्इतिहास, प्रथम भाग (पृ० 237)।

"अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ॥

यहाँ पर त्वष्टा बढ़ई का पर्यायवाची है तो वह भी तो कोई मनुष्य ही होगा, वैसे त्वष्टा आदित्य (अदितिपुत्र), वृत्र का पिता और असुरों का पुरोहित था।

ऋग्वेद में इन्द्र और अश्विनीकुमारों के इतने कार्यों का उल्लेख है कि उनका इतिहासपरक अर्थ से भिन्न अर्थ लग ही नहीं सकता, यथा इन्द्र के कर्म—

> अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते ।
> निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ।
> त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
> त्वं शता वृङ्गदस्याभिनत् पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना ।
> त्वमाविथ सुश्रवसम्...... ।
> त्वस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं मंहे राज्ञे यूने अरन्धनायः ।
> (ऋ० 1153)

उपर्युक्त मंत्रों में वचस्यु, कक्षीवान्, वृचया, नमुचि, करञ्ज, पर्णय, वृङ्गद, अतिथिग्व, ऋजिश्वी, सुश्रवा और कुत्स सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन है।

इसी प्रकार अश्विनों ने रेभ, वन्दन, कण्व, भुज्यु, ककर्धु, वय्य, पुरुकुत्स, वसिष्ठ, कुत्स, श्रुतर्य, विश्पला आदि की रक्षा की (द्र० ऋ० 1।112 सूक्त); इस सूक्त के मंत्रों में भुज्यु विश्पला आदि का मानवीय नामों के अतिरिक्त और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता।

ऋग्वेद में सुवास्तु, कुभा, क्रमु आदि भौगोलिक नामों का भी इतिहास से ही सम्बन्ध है, अतः ऋग्वेद में इतिहास का पर्याप्त उल्लेख है।

इसी प्रकार अथर्ववेद में और भी स्पष्ट ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हैं—यथा—वीतहव्य क्षत्रिय ब्राह्मण (जमदग्नि) की गौ (भूमि) को हड़पने पर मारे गये—

> ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् । (अथर्व० 5।18।10)

इसी तथ्य का पुनः उल्लेख है—

यां जमदग्नि रखनद्दुहित्रे केशवर्धनीम्।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ।। (अथर्व० 6।137।1)

अथर्ववेद के काण्ड, 8 प्रपाठक 19, अनुवाक 5 में निम्नलिखित ऐतिहासिक व्यक्तियों का नाम हैं—असुर, विरोचन, प्राह्लादि, द्विमूर्धा, यम, मनुर्वैवस्वत, पृथी वैन्य, सप्तर्षि, सोम, बृहस्पति, आङ्गिरस, इन्द्र, सविता, गन्धर्व, अप्सरा, चित्ररथ सौर्यवर्चा, वसुरुचि, सौर्यवर्चा, कुबेर वैश्रवण, रजतनाभि काबेरक (कुबेरपुत्र), तक्षक वैशालेय, धृतराष्ट्र ऐरावत। इन नामों का इतिहास के अतिरिक्त और किससे सम्बन्ध हो सकता है।

इन्हीं तथ्यों का शतपथ, ऐतरेय, ताण्ड्य, जैमिनीय आदि ब्राह्मणों एवं काठक, मैत्रायणी आदि संहिताओं में व्याख्यान है, यदि विष्णु, वृत्र आदि का ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्ध नहीं होता तो ये ग्रन्थ मन्त्रों का इतिहासपरक व्याख्यान क्यों करते, यह बुद्धिगम्य नहीं है। उदाहरणार्थ वेदमन्त्रों में 'पञ्चजन' पद बहुधा दृष्टिगोचर होता है। इस पद की व्याख्या करते हुये ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है—'सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थ्यं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितृणां च।" (ऐ०ब्रा० 13।7)। इसी प्रकार जैमिनीयब्राह्मण में लेख है—'ये देवा असुरेभ्यः पूर्वं पञ्चजना आसन् (1।41।17) अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में लिखा है कि देवों ने असुरों को जीतकर पृथिवी पर अधिकार किया, क्या यह ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नहीं है, अतः वेदमन्त्रों में इतिहास न मानना कोरा पाखण्ड और अज्ञान है।

यास्काचार्य ने प्राचीनसत्यपरम्परा का पालन करते हुये वेदमन्त्रान्तर्गत ऐतिह्य का यत्र-तत्र उल्लेख किया है, हम अनुसंधित्सु विद्यार्थियों की जिज्ञासा—शमनार्थ प्रायः समस्त ऐतिहासिक अंशों का यहाँ सङ्कलन प्रस्तुत करते हैं।

इन्द्रअगस्त्यसंवाद—निरुक्त (1।5) में सर्वप्रथम "अगस्त्य और इन्द्र का ऐतिहासिक संवाद उल्लिखित है—अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार। स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे।" "अगस्त्य ने इन्द्र के लिये हविः निर्वपन (निकाल) कर मरुतों को देने की इच्छा की। इन्द्र ने दुःखपूर्वक विलाप किया।"

देवापि और शन्तनु—"तत्रेतिहासमाचक्षते । देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः । स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे । देवापिस्तपः प्रतिपेदे । ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष । तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं तस्मात्ते देवो न वर्षति इति । स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन । तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति ।" (नि० 2।3।10) ।

"यहाँ इतिहास कहते हैं । देवापि आर्ष्टिषेण और शन्तनु कौरव्य भ्राता थे । कनिष्ठ शन्तनु का राज्याभिषेक कर दिया गया । देवापि तप करने वन चले गये । तब शन्तनु के राज्य में द्वादशवर्ष वर्षा नहीं हुई । ब्राह्मण शन्तनु से बोले—तुमने अधर्माचरण किया है । तुमने ज्येष्ठ भ्राता का उल्लंघन करके राज्याभिषेक कराया है, इसलिए इन्द्रदेव ने वर्षा नहीं की । तब शन्तनु ने देवापि को राज्य देना चाहा । देवापि उससे बोले—मैं तुम्हारा पुरोहित बनूँगा और यज्ञ कराऊँगा ।"

विश्वामित्र और सुदास—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव । स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः संभेदम् आययौ । स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव; (नि० 2।7।24) ।

"विश्वामित्र ऋषि सुदास पैजवन के पुरोहित थे । वह धन लेकर विपाशा और शुतुद्रि नदियों के सङ्गम पर आये । तब विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की ।"

कुशिकः—कुशिको राजा बभूव······ (नि० 2।7।25) ।

"कुशिक राजा थे ।"

वृत्रः—"तत्को वृत्रः ? मेघइति नैरुक्ताः । त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः" (नि० 2।5।16) ।

"वृत्र कौन है । नैरुक्तों के मत में मेघ है । इतिहास में त्वष्टा का पुत्र वृत्रासुर है ।"

त्रित—"त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ । तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रगाथामिश्रं भवति ।···एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः ।" (नि० 4।1।6) ।

"कुएं में पतित त्रित को इस सूक्त का दर्शन हुआ। मन्त्र इतिहास, ऋक् और गाथा से मिश्रित होता है। एकत, द्वित और त्रित—ये तीनों भाई थे।"

तुग्व—सुवास्तुनदी तुग्व तीर्थं भवति, (नि० 4।2।15)।

"मन्त्र में उल्लिखित सुवास्तु नदी और तुग्व तीर्थ हैं।"

नोधा—'नोधा ऋषिर्भवति' (नि० 4।2।25) "नोधाऋषि है।"

च्यवन—'च्यवन ऋषिर्भवति', (नि० 4।2।19) "च्यवन ऋषि है।"

शंयु—'अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते' (नि० 4।3।21)

"शंयु बृहस्पति का पुत्र कहा गया है।"

उर्वशी—'उर्वश्यप्सरा' (नि० 2।3।14) 'उर्वशी अप्सरा थी'

इन्द्र और दुर्भिक्ष—"इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ—'दुर्भिक्षे केन जीवति इति तेषामेकः प्रत्युवाच—

शकटः शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम्।
उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नववृत्तयः॥ (नि० 6।2।4)

"इन्द्र (कश्यपपुत्र) ने ऋषियों से पूछा—'दुर्भिक्ष में किस प्रकार जीवित रहते हैं। उनमें एक (ऋषि) बोला—शकट (गाड़ी) शाकिनी (शाकवाली भूमि), गायें, जाल, अस्यन्दन (तालाब), वन, समुद्र, पर्वत और राज ये अकाल में जीवनोपाय हैं।"

महाभारत शल्यपर्व (अ० 51) में लिखा है कि वार्तघ्नदेवासुर संग्राम के पश्चात् द्वादश वार्षिकी घोर अनावृष्टि हुई। इस घोर दुर्भिक्ष में क्षुत्पिपासा से पीड़ित ऋषिगण इतस्ततः भाग गये। शिशु आङ्गिरस सारस्वत अपान्तरतमा की शरण में साठ सहस्र ऋषिमुनि रहे। भूखे-प्यासे ऋषिगण वेद भूल गये। युवक अपान्तरतमा ने वृद्ध ऋषियों को वेद पढ़ाया—

"अध्यापयामास पितॄञ्छिशुराङ्गिरसः कविः।" (मनुस्मृति अ० 2)
"सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यंददृशुर्नपूर्वे।" (सौन्दरानन्द)

निरुक्त का यह प्रसङ्ग बृहद्देवता (6।137-141) में कुछ अधिक विस्तार से है—

अनावृष्ट्यां तु वर्तन्त्यां पप्रच्छर्षीञ्छचीपतिः। काले दुर्गे महत्यस्मिन् कर्मणा केन जीवथ। शकटं शाकिनी……राजा एवं जीवामहे वयम्॥

स्तुवन्नेव शशंसास्य ऋषिराङ्गिरसः शिशुः। मानानीयेन सूक्तेन ऋषीणामेव संनिधौ। तानिन्द्रस्त्वाह सर्वांस्तु तपध्वं सुमहत्तपः। न ह्यृते तपसः शक्यम् इदं कृच्छ्रं व्यपोहितुम्॥

कक्षीवान्—"कक्षीवान्……औशिज उशिजः पुत्रः", (नि० 6।3 10)।

"कक्षीवान् उशिज् (स्त्री) का पुत्र था।"

शिरिम्बिठः—'अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः', (नि० 6।6।30)

"शिरिम्बिठ भरद्वाज का पुत्र (या वंशज) था।"

पराशरः—पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे (नि० 6।6।30), "अत्यन्त जीर्ण शीर्ण स्थविर वसिष्ठ से पराशर का जन्म हुआ।" पराशर वसिष्ठपुत्र या वासिष्ठ शक्ति का पुत्र था यास्क के इस कथन से सिद्ध होता है कि प्रत्येक वशिष्ठवंशी को भी वसिष्ठ ही कहा जाता था।

कीकट—कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः (6।32)।

इलीबिश—निरविध्यदिलीबिलशस्य दृह्लानि व्यभिनच्छृङ्गिणं शुष्णमिन्द्रः' (नि० 6।19) "इलीबिल के दृढ़ स्थानों (उच्चशिखरों) और बल (सेना) को इन्द्र ने तोड़ डाला।"

भावयव्य—"सिन्धावधिनिवसतो भावयव्यस्य राज्ञो यो मे सहस्रं निरमिमीत सवानतूर्तो राजा' (नि० 9।1।10)।

"सिंधुतीरपर निवास करते हुये मुझ भावयव्य राजा के सहस्र सोमयागों को सम्पन्न किया।"

मुद्गल—सूभर्वं सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय।……

तत्रेतिहासमाचक्षते—मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय।……भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः। (नि० 9।23)—"संग्राम में मुद्गल भार्म्यश्व (भृम्यश्वपुत्र) ने सूभर्व राजा से सहस्र गाय वृषभ और मुद्गर के द्वारा बाजी या युद्ध में जीतीं" राजा

मृम्यश्व पाञ्चालवंश का प्रवर्तक था, उसके पाँच पुत्र थे—काम्पिल्य, यवीनर, सृञ्जय, मुद्गल और बृहदिषु इन्होंने पांच राज्यों की स्थापना की जो पाञ्चाल कहलाये।

विपाट्—"आर्जीकीयां विपाडित्याहुः। पाशाअस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः। तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा ॥ (नि० 9।26)

"मुमूर्षु वसिष्ठ के पाश (फाँसे) इस नदी में खुल गये, इसलिये इसको विपाट् या विपाशा कहते हैं, इसका पूर्व नाम उरुञ्जिरा था।" इसका नाम ही आर्जिकीया है मन्त्र (ऋग्वेद 10।75।5) में है—

> इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
> असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥

पं० भगवद्दत्त जी इनको पार्थिव नदी नहीं मानते—'ये पृथिवी पर की नदियों से भिन्न हैं।' (निरुक्तशास्त्र, पृ०497), उनके मत में वेद में अन्तरिक्षस्थ नदियों का वर्णन हो सकता, पार्थिव नदियों का नहीं, उनके मत में ऋषि पार्थिव नदियों की पूजा नहीं करते, अन्तरिक्षस्थ नदियों की पूजा कर सकते थे। कैसा निरर्थक और निर्मूल विचार है। अन्तरिक्ष का जल हमारे किस काम का, जब तक वह पृथिवी पर न आये और त्रिलोकों में पञ्चतत्त्व (जलादि) के गुण समान हैं। फिर मेघादि के प्रति ऋषियों का पक्षपात क्यों होता, जबकि पार्थिव नदी से उनका जीवन निर्वाह होता था।

विश्वकर्मा भौवन—"तत्रेतिहासमाचक्षते-विश्वकर्मा भौवन सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार।"

"इतिहास को कहते हैं। भुवन के पुत्र विश्वकर्मा ने सर्वमेध में सब भूतों को होम या दान कर दिया और अन्त में अपने को भी दान कर दिया।

ऋभुगण—'ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः" (नि० 11।2।16)। "ऋभु, विभ्वा और वाज—ये आङ्गिरस सुधन्वा के तीन पुत्र थे।" इन्हें ऋग्वेद में 'ऋभवः सूरचक्षसः' कहा है।

सरमा—'देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम्' (नि० 1।35)

देवशुनी इन्द्र द्वारा प्रेषित थी, उसने पणियों से संवाद किया, यह आख्यान है।" ये पणि असुर ईराक की रंहा (रसा) नदी के तटवासी थे, जैसा कि बृहद्देवता में लिखा है—

असुराः पणयोनाम रसापारनिवासिनः।
गास्तेऽपजह्रुरिन्द्रस्य न्यगूहंश्च प्रयत्नतः। (बृ० 8।24)

पणि नाम के असुर गण रसा (नदी) के उस पार रहते थे। इन असुरों ने इन्द्र की गायों का अपहरण कर लिया और उन्हें प्रयत्नपूर्वक छिपा दिया।" इसी रसातट को पुराणों में 'रसातल' कहा गया, जो सप्तपातालों में एक था। उत्तरकालीन फिनिशियन जाति ये ही पणि थे, असुरों का विस्तार देवयुग से पूर्व से ही योरोप और एशिया में था।

'सरमा' पद देवशुनी से पूर्व नहीं था या वेद में इसका दूसरा अर्थ नहीं है, ऐसा भी हम नहीं मानते, परन्तु उपर्युक्त इतिहास को भी ओझल नहीं किया जा सकता। यह मध्यमा वाक् का भी नाम था।

अश्विनौ—"तत्कावश्विनौ··· । राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः (12।1) "अश्विनौ कौन है ? वे दो पुण्यात्मा राजा थे, यह ऐतिहासिक मत हैं।" इनके ऐतिहासिक जन्म की कथा यास्क ने 'सरण्यू' के प्रसङ्ग में लिखी है।

सरण्यू—तत्रेतिहासमाचक्षते—त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव, ततोऽश्विनौ जज्ञाते, सवर्णायां मनुः।" (नि० 12।1।10)। "त्वष्टा की पुत्री सरण्यू ने विवस्वान् आदित्य (अदितिपुत्र) से दो पुत्रों को जना। वह अन्य सवर्णा को घर पर छोड़कर घोड़ी का रूप बनाकर भागी, विवस्वान् ने भी अश्वरूप से उसका पीछा किया, उससे दो पुत्र अश्विनौ हुये, और सवर्णा से वैवस्वतमनु।"

अध्याय पञ्चम

वैदिककोश (निघण्टु) संग्रह

निघण्टु में वैदिकपदों का संग्रह है। इसमें पाँच अध्याय हैं। यहाँ पर महत्वपूर्ण कुछ पदों का संग्रह किया जाता है।

पृथिवी के पर्यायवाची—प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम पृथिवी के पर्यायवाची इक्कीस पदों का संग्रह है। यद्यपि ये पद पृथिवी के पर्यायवाची कहे जाते हैं, परन्तु प्रत्येक वैदिक पद अनेकार्थक है, उदाहरणार्थ पृथिवी के पर्यायवाची प्रथम पद गौ के ही इन्द्रिय, वाणी, नक्षत्र, गाय आदि अनेक अर्थ हैं, यही अदिति आदि शतशः पदों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

पृथिवी के 21 पर्यायवाची पद ये हैं—(1) गौः (2) ग्मा (3) ज्मा (4) क्ष्मा (5) क्षमा (6) क्षोणी (7) क्षितिः (8) अवनिः (9) उर्वी (10) पृथिवी (11) रिपः (12) अदितिः (13) इला (14) निर्ऋतिः (15) भूः (16) भूमिः (17) पूषा (18) गातुः (19) मही (20) क्षा (21) गोत्रः।

सुवर्ण (हिरण्य) के पर्यायवाची—पन्द्रह पद हैं—(1) हेम (2) चन्द्रम् (3) अयः (4) हिरण्यम् (5) पेशः (6) कृशनम् (7) लोहम् (8) कनकम् (9) काञ्चनम् (10) भर्म (11) अमृतम् (12) मरुत् (13) दत्रम् (14) रुक्मम् (15) जातरूपम्।

आकाश के पर्यायवाची—(1) अम्बरम् (2) वियत् (3) व्योम (4) बर्हिः (5) धन्व (6) अन्तरिक्षम् (7) आकाशम् (8) आपः (9) पृथिवी (10) भूः (11) स्वयम्भूः (12) अध्वा (13) पुष्करम् (14) सगराः (15) समुद्रः (16) अध्वरम्।

इनके अतिरिक्त अन्तरिक्ष, आकाश या स्वर्ग या पृथिवी के पर्यायवाची ये छः शब्द और हैं— (1) स्वः (2) पृश्निः (3) नाकः (4) गौः (5) विष्टप् (6) नभः।

रश्मि या किरण के पर्यायवाची—(1) खेदयः (2) किरणाः (3) गावः (4) रश्मयः (5) अभीशवः (6) दीधितयः (7) गभस्तयः (8) वनम् (9) उस्राः (10) वसवः (11) मरीचिपाः (12) मयूखाः (13) सप्तऋषयः (14) साध्याः (15) सुपर्णाः।

दिशा के पर्यायवाची—दिशा के पर्यायवाची वेदमन्त्रों में प्राप्य इन आठ पदों का निघण्टु में संग्रह है—(1) आताः (2) आशाः (3) उपराः (4) आष्ठाः (5) काष्ठाः (6) व्योम (7) ककुभः (8) हरितः।

रात्रि के पर्यायवाची—(1) श्यावी (2) क्षपा (3) शर्वरी (4) अक्तुः (5) ऊर्म्या (6) राम्या (7) यम्या (8) नम्या (9) दोषा (10) नक्ता (11) तमः (12) रजः (13) असिक्नी (14) पयस्वती (15) तमस्वती (16) घृताची (17) शिरिणा (18) मोकी (19) शोकी (20) ऊधः (21) पयः (22) हिमा (23) वस्वा।

उषा के पर्यायवाची—(1) विभावरी (2) सूनरी (3) भास्वती (4) ओदती (5) चित्रामघा (6) अर्जुनी (7) वाजिनी (8) वाजिनीवती (9) सुम्नावरी (10) अहना (11) द्योतना (12) श्वेत्या (13) अरुषी (14) सुनृता (15) सूनृतावती (16) सूनृतावरी।

दिन के पर्यायवाची—(1) वस्तोः (2) द्युः (3) भानुः (4) वासरम् (5) स्वसराणि (6) घ्रंसः (7) घर्मः (8) घृणः (9) दिनम् (10) दिवा (11) दिवेदिवे (12) द्यविद्यवि।

मेघ के पर्यायवाची—(1) अद्रिः (2) ग्रावा (3) गोत्रः (4) वलः (5) अश्नः (6) पुरुभोजाः (7) वलिशान (8) अश्मा (9) पर्वतः (10) गिरिः (11) व्रजः (12) चरुः (13) वराहः (14) शंबरः (15) रौहिणः (16) रैवतः (17) फलिगः (18) उपरः (19) उपलः (20) चमसः

(21) अहि: (22) अभ्रम् (23) बलाहक: (24) मेघ: (25) दृति: (26) ओदन: (27) वृषन्धि: (28) वृत्र: (29) असुर: (30) कोश: ।

वाक् या भाषा के पर्यायवाची—(1) श्लोक: (2) धारा (3) इला (4) गौ: (5) गौरी (6) गान्धर्वी (7) गभीरा (8) गम्भीरा (9) मन्द्रा (10) मन्द्राजनी (11) वाशी (12) वाणी (13) वाणीची (14) वाण (15) पवि: (16) भारती (17) धमनि: (18) नाली: (19) मेना (20) मेलि: (21) सूर्या (22) सरस्वती (23) निवित् (24) स्वाहा (25) वग्नु: (25) उपब्दि: (27) मायु: (28) काकुत् (29) जिह्वा (30) घोष: (31) स्वर: (32) शब्द: (33) स्वन: (34) ऋक् (35) होत्रा (36) गी: (37) गाथा: (38) गण: (39) धेना (40) ग्ना: (41) विपा (42) नना (43) कशा (44) धिषणा (45) नौ: (46) अक्षरम् (47) मही (48) अदिति: (49) शची (50) वाक् (51) अनुष्टुप् (52) धेनु: (53) वल्गु: (54) गल्दा (55) सर: (56) सुपर्णी (57) बेकुरा ।

उदक या जल के पर्याय—(1) अर्ण: (2) क्षोद: (3) क्षद्म (4) नभ: (5) अम्भ: (6) कबन्धम् (7) सलिलम् (8) वा: (9) वनम् (10) घृतम् (11) मधु (12) पुरीषम् (13) पिप्पलम् (14) क्षीरम् (15) विषम् (16) रेत: (17) कश: (18) जन्म (19) बृबूकम् (20) बुसम् (21) तुग्र्या (22) बुर्बुरम् (23) सुक्षेम (24) धरुणम् (25) सुरा (26) अर-रिन्दानि (26) ध्वस्मन्वत् (28) जामि (29) आयुधानि (30) क्षप: (31) अहि: (32) अक्षरम् (33) स्रोत: (34) तृप्ति: (35) रस: (36) उदकम् (37) पय: (38) सर: (39) सह: (40) शव: (41) यह: (42) ओज: (43) सुखम् (44) क्षत्रम् (45) आवया: (46) शुभम् (47) यादु: (48) भूतम् (49) भुवनम् (50) भविष्यत् (51) आप: (52) महत् (53) व्योम (54) यश: (55) मह: (56) सर्णीकम् (57) स्वृतीकम् (58) सतीनम् (59) गहनम् (60) गभीरम् (61) गम्भरम् (62) ईम् (63) अन्नम् (64) हवि: (65) सद्म (66) सदनम् (67) ऋतम् (68) योनि: (70) सत्यम् (71) नीरम् (72) रयि: (73) सत् (74) पूर्णम् (75) सर्वम् (76) अक्षितम् (77) बर्हि: (78) नाम (79) सर्पि: (80) अप: (81) पवित्रम् (82) अमृतम् (83) इन्दु: (84) हेम (85) स्व: (86) सर्गा:

(87) शम्बरम् (88) अम्बम् (89) वपुः (90) अम्बु (91) तोयम् (92) तूयम् (93) कृपीटम् (94) शुक्रम् (95) तेजः (96) स्वधा (97) वारि (98) जलम् (99) जलाषम् (100) इदम् ।

नदी के पर्याय—(1) अवनयः (2) यव्याः (3) खाः (4) सीराः (5) स्रोत्याः (6) एन्यः (7) धुनयः (8) रुजानाः (9) वक्षणाः (10) खादो अर्णाः (11) रोधचक्राः (12) हरितः (13) सरितः (14) अग्रुवः (15) नभन्वः (16) वध्वः (17) हिरण्यवर्णाः (18) रोहितः (19) सस्रुतः (20) अर्णाः (21) सिन्धवः (22) कुल्याः (23) वर्यः (24) उर्व्यः (25) इरावत्यः (26) पार्वत्यः (27) स्रवन्त्यः (28) ऊर्जस्वत्यः (29) पयस्वत्यः (30) तरस्वत्यः (31) सरस्वत्यः (32) हरस्वत्यः (33) रोधस्वत्यः (34) भास्वत्यः (35) अजिराः (36) मातरः (37) नद्यः ।

अश्वपर्याय—(1) अत्यः (2) हयः (3) अर्वा (4) वाजी (5) सप्तिः (6) वह्निः (7) दधिक्राः (8) दधिक्रावा (9) एतग्वः (10) एतशः (11) पैद्वः (12) दौर्गहः (13) औच्चैःश्रवसः (14) तार्क्ष्यः (15) आशुः (16) ब्रध्नः (17) अरुषः (18) मांश्चत्वः (19) अव्यथयः (20) श्येनासः (29) सुपर्णाः (22) पतङ्गाः (23) नरः (24) ह्वार्याणाम् (25) हंसासः (26) अश्वाः ।

वेदमन्त्रों में इन्द्र के अश्वों को 'हरी', अग्नि के अश्व को रोहित आदित्य के अश्व को हरित, कहते हैं। अश्विनीकुमारों के वाहन रासभ, पूषा के अज (बकरे), मरुतों के पृषती, उषा के अरुणी गायें, सविता के श्यावा, बृहस्पति के विश्वरूप और वायु के वाहन नियुत कहलाते हैं।

वेद में ज्वलनार्थक ये एकादश धातुयें हैं—(1) भ्राजते (2) भ्राशते (3) भ्राश्यति (4) दीदयति (5) शोचति (6) मन्दते (7) भन्दते (8) रोचते (9) ज्योतते (10) द्योतते (11) द्युमत् । ज्वलनक्रिया या ताप के पर्यायवाची शब्द हैं—(1) जमत् (2) कल्मलीकिनम् (3) जञ्जणाभवन् (4) मल्मलाभवन् (5) अर्चिः (6) शोचि (7) तपः (8) तेजः (9) हरः (10) हृणिः (11) शृङ्गाणि ।

निघण्टु के द्वितीय अध्याय में सर्वप्रथम 'कर्म' के 26 पर्याय हैं—(1) अपः (2) अप्नः (3) दंसः (4) वेषः (5) वेपः (6) विष्ट्वी (7) व्रतम् (8) कर्वरम् (9) करणम् (10) शकम (11) क्रतुः (12) करणानि (13) करांसि (14)

करिक्रत् (15) करन्ती (16) चक्रत् (17) कर्त्वम् (18) कर्त्वाः (19) कर्तवै (20) कृत्वी (21) धीः (22) शची (23) शमी (24) शिमी (25) शक्ति (26) शिल्पम् ।

अपत्य (सन्तान) के पर्याय—(1) तुक् (2) तोकम् (3) तनयः (4) तोक्म् (5[तक्म (6) शेषः (7) अप्नः (8) गयः (9) जाः (10) अपत्यम् (11) यहुः (12) सूनुः (13) नपात् (14) प्रजा (15) बीजम् ।

मनुष्य-पर्याय—1. मनुष्याः 2. नरः 3. धवाः 4. जन्तवः 5. विशः 6. क्षितयः 7. कृष्टयः 8. चर्षणयः 9. नहुषः 10. हरयः 11. मर्याः 12. मर्त्याः 13. मर्ताः 14. व्राताः 15. तुर्वशाः 16. द्रुह्यवः 17. आयवः 18. यदवः 19. अनवः 20. पूरवः 21. जगतः 22. तस्थुषः 23. पञ्चजनाः 24. विवस्वन्तः 25. पृतना ।

बाहु-पर्याय—1. आयती 2. च्यवाना 3. अभीशू 4. अप्नवाना 5. विनङ्गृसौ 6. गभस्ती 7. करस्नौ 8. बाहू 9. भुरिजौ 10. क्षिपस्ती 11. शक्वरी 52. भरित्रे ।

अङ्गुलि-पर्याय—1. अग्रुवः 2. अण्व्यः 3. क्षिपः 4. विशः 5. शर्याः 6. रशनाः 7. धीतयः 8. अथर्यः 9. विप्रः 10. कक्ष्याः 11. अवनयः 12. हरितः 13. स्वसारः 14. जामयः 15 सनाभयः 16. योक्त्राणि 17. योजनानि 18. धुरः 19. शाखाः 20. अभीशवः 21 दीधितयः 22. गभस्तयः ।

इच्छा-पर्याय—(धातुयें)—1. वश्मि 2. उश्मसि 3. वेति 4. वेनति 5. वेवति 6. वाञ्छति 7. वष्टि 8. वनोति 9. वनोति 10. जुषते 11. हर्यति 12. मामहे 13. उशिक् 14. मन्यते 15. छन्त्सत् 16. चाकनत् 17. चकमानः 18. कनति 19. कानिषत् ।

अन्न-पर्याय—1. अन्नम् 2. वाजः 3. पयः 4. श्रवः 5. पृक्षः 6. पितुः 7. सुतः 8. सिनम् 9. अवः 10. क्षुः 11. धासिः 12. इरा 13. इला 14. इषम् 15. ऊर्क् 16. रसः 17. स्वधा 18. अर्कः 19. क्षद्म 20. नेमः 21. ससम् 22. नमः 23. आयुः 24. सूनृता 25. ब्रह्म 26. वर्चः 27. कीलालम् 28. यशः ।

भक्षणार्थक धातुयें—आवयति 2. भर्वति 3. बभस्ति 4. वेति 5. वेवेष्टि 6. अविष्यन् 7. वप्सति 8. भसथ: 9. बब्धाम् 10. ह्वयति।

बल-पर्याय—1. ओज: 2. पाज: 3. शव: 4. तव: 5. सर: 6. त्वक्ष 7. शर्ध: 8. बाध: 9. नृम्णम् 10. तविषी 11. शुष्मम् 12. शुष्णम् 13. दक्ष: 14. वीडु 15. च्यौत्नम् 16. शूषम् 17. सह: 18. मह: 19. वध: 20. वर्ग: 21. वृजनम् 22. वृक् 23. मज्मना 24. पौंस्यानि 25. धर्णसि: 26. द्रविणम् 27. स्यन्द्रास: 28. शम्बरम्।

धनपर्याय—1. मघम् 2. रेक्ण: 3. रिक्थम् 4. वेद: 5. वरिव: 6. श्वात्रम् 7. रत्नम् 8. रयि: 9. क्षत्रम् 10. भग: 11. मीढुम् 12. गय: 13 द्युम्नम् 14. इन्द्रियम् 15. वसु: 16. राय: 17. राध: 18. भोजनम् 19. तना 20. नृम्णम् 21. बन्धु: 22. मेधा 23. यश: 24. ब्रह्म 25. द्रविणम् 26. श्रव: 27. वृत्रम् 28. ऋतम्।

गो-पर्याय—1. अघ्न्या 2. उस्रा 3. उस्रिया 4. अही 5. मही 6. अदिति: 7. इला 8. जगती 9. शक्वरी।

क्रोध-पर्याय धातु—1. रेडते 2. हेडते 3. भामते 4. हृणीयते 5. भ्रीणाति 6. भ्रेषति 7. दोधति 8. वनुष्यति 9. कम्पते 10. भोजते।

क्रोधपर्याय—1. हेड: 2. हर: 3. हृणि: 4. त्यज: 5. भाम: 6. एह: 7. ह्वर: 8. तपुषी 9. चूर्णि: 10. मन्यु: 11. व्यथि:।

शीघ्र-पर्याय—1. नु 2. मक्षु 3. द्रवत् 4. ओषम् 5. जीरा: 6. जूर्णि: 7. शूर्ता: 8. शूघनास: 9. शीभम् 10. तृषु 11 तूयम् 12. तूर्णि: 13. अजिरम् 14. भुरण्यु: 15. शु 16. आशु 17. प्राशु: 18. तूतुजि: 19. तूतुजान: 20. तुज्यमानास: 21. अज्रा: 22. साचिवत् 23. द्युमत् 24. ताजत् 25. तरणि: 26. वातरंहा:।

निकट-पर्याय—1. तडित् 2. आसात् 3. अम्बरम् 4. तुर्वशे 5. अस्तमीके 6. आके 7. उपाके 8. अर्वाके 9. अन्तमानाम् 10. अवमे 11. उपम:।

युद्ध-पर्याय—1. रण: 2. विवाक् 3. विखाद् 4. नदनु: 5. भरे 6. आक्रन्दे 7. आहवे 8. आजौ 9. पृतनाज्यम् 10. अभीके 11. समीके

12. ममसत्यम् 13. नेमधिता 14. सङ्का 15. समिति: 16. समनम् 17. मीळ्हे 18. पृतना: 19. स्पृध: २0. मृध: 21. पृत्सु: 22. समत्सु 23. समर्ये 24. समरणे 25. समोहे 26. समिथे 27. संख्ये 28. सङ्गे 29. संयुगे 30. सङ्गथे 31. सङ्गमे 32. वृत्रतूर्ये 33. पृक्षे 34. आणौ 35. शूरसातौ 36. वाजसातौ 37. समनीके 38. खले 39. खजे 40. पौंस्ये 41. महाधने 42. वाजे 43. अज्मे 44. सद्म 45. संयत् 46, संवत ।

वज्रपर्याया:—1. दिद्युत् 2. नेमि: 3. हेति: 5. नम: 5. पवि: 6. सृक् 7. वध: 8. वज्र: 9. अर्क: 10. कुत्स: 11. कुलिश: 12. तुञ्ज: 13. तिग्म: 14. मेनि: 15. स्वधिति: 16. सायक: 17. परशु: ।

स्वामिपर्याया—1. राष्ट्री 2. अर्य: 3. नियुत्वान् 4. इन: ।

निघण्टु के तृतीय अध्याय में निम्नलिखित पदों का प्रधानत: सङ्कलन है ।

बहुपर्याय—1. उरु 2. तुवि 3. पुरु 4. भूरि 5. शश्वत् 6. विश्वम् 7. परीणसा 8. व्यानशि: 9. शतम् 10. सहस्रम् 11. सलिलम् 12. कुविद ।

ह्रस्वपर्याय—1. ऋहन् 2. ह्रस्व: 3. निघृष्व: 4. मायुक: 5. प्रतिष्ठा 6. कृधु 7. वम्रक: 8. दभ्रम् 9. अर्भक 10. क्षुल्लक: 11. अल्पकम् ।

महत्पर्याया:—1. महत् 2. ब्रन्ध: 3. ऋष्व: 4. बृहत् 5. उक्षित: 6. तवस: 7. तविष: 8. महिष: 9. अम्व: 10 ऋभुक्षा: 11. उक्षा 12. विहाया: 13. यह्व: 14. ववक्षिथ 15. विवक्षसे 16. अम्भृण: 17. माहिन: 18. गभीर: 19. ककुह: 20. रभस: 21. ब्राधन् 22. विरप्शी 23. अद्भुत् 24. बंहिष्ठ 25. बर्हिषत् ।

गृहनामानि—1. गय: 2. कदर: 3. गर्त: 4. हर्म्यम् 5. अस्तम् 6. पस्त्यम् 7. दुरोणे 8. नीडम् 9. दुर्या: 10. स्वसराणि 11. अमा 12. दमे 13. कृत्ति: 14. योनि: 15. सद्म 16. शरणम् 17. वरूथम् 18. छर्दि: 19. छदि: 20. छाया 21. शर्म 22. अज्म ।

सुखनामानि—1. शिम्बाता 2. शतरा 3. शातपन्ता 4. शिल्गु: 5. स्यूमकम् 6. शेवृधम् 7. मय: 8. सुग्म्यम् 9. सुदिनम् 10. शूषम् 11. शुनम् 12. शग्मम्

13. भेषजम् 14. जलाषम् 15. स्योनम् 16. सुम्नम् 17. शेवम् 18. शिवम् 19. शम् 20. कत् ।

रूपनामानि—1. निर्णिक् 2. वव्रिः 3. वर्पः 4. वपुः 5. अमति 6. अप्सः 7. प्सुः 8. अप्नः 9. पिष्टम् 10. पेशः 11. कृशनम् 12. मरुत् 13. अर्जुनम् 14. ताम्रम् 15. अरुषम् 16. शिल्पम् ।

प्रशस्यस्य (प्रशंसनीय) पर्यायाः—1. अरेमा 2. अनेमा 3. अनेद्यः 4. अनवद्यः 5. अनभिशस्त्यः 6. उक्थ्यः 7. सुनीथः 8. पाकः 9. वामः 10. वयुनम् ।

प्रज्ञानामानि—1. केतुः 2. केतः 3. चेतः 4. चित्तम् 5. क्रतुः 6. असुः 7. धीः 8. शची 9. माया 10. वयुनम् 11. अभिख्या ।

सत्यनामानि—1. बट् 2. श्रत् 3. सत्रा 4. अद्धा 5. इत्था 6. ऋतम् ।

दृश्धातुपर्यायाः—1. चिक्यत् 2. चाकनत् 3. अचष्म 4. चष्टे 5. विचष्टे 6. विचर्षणिः 7. विश्वचर्षणिः 8. अवचाकशत् ।

मेधाविनामानि—1. विप्रः 2. विग्रः 3. गृत्सः 4. धीरः 5. वेनः 6. वेधाः 7. कण्वः 8. ऋभुः 9. नवेदाः 10. कविः 11. मनीषी 12. मन्धाता 13. विधाता 14. विपः 15. मनश्चित् 16. विपश्चित् 17. विपन्यवः 18. आकेनिपः 19. उशिजः 20. कीस्तासः 21. अद्धातयः 22. मतयः 23. मतुथाः 24. मेधावी 25. वाघतः ।

स्तोतृनामानि (स्तोत्रार्थकपर्याय)—1. रेभः 2. जरिता 3. कारुः 4. नदः 5. स्तामुः 6. कीरिः 7. गौः 8. सूरिः 9. नादः 10. छन्दः 11. स्तुप् 12. रुद्रः 13. कृपण्युः ।

यज्ञनामानि—1. यज्ञः 2. वेनः 3. अध्वरः 4. मेधः 5. विदथः 6. नार्यः 7. सवनम् 8. होत्रा 9. इष्टिः 10. देवताता 11. मखः 12. विष्णुः 13. प्रजापतिः 14. इन्दुः 15. घर्मः ।

ऋत्विक्पर्याय—1. भरताः 2. कुरवः 3. वाघतः 4. वृक्तबर्हिषः 5. यतस्रुचः 6. मरुतः 7. सबाधः 8. देवयवः ।

कूपनामानि—1. कूप: 2. कातु: 3. कर्त: 4. वव्र: 5. काट: 6. खात: 7. अवत: 8. क्रिवि: 9. सूद: 10. उत्स: 11. ऋश्यदात् 12. कारोतरात् 13. कुशय: 14. केवट: ।

स्तेन-(चौर) नामानि—1. तृपु: 2. तका 3. रिभ्वा 4. रिपु: 5. रिक्वा 6. रिहायाः 7. तायु: 8. तस्कर: 9. वनर्गु: 10. हुरश्चित् 11. मुषीवान् 12. मलिम्लुच: 13. अघशंस: 14. वृक: ।

पुराणनामानि—1. प्रत्नम् 2. प्रदिव: 3. प्रवया: 4. सनेमि 5. पूर्व्यम् 6. अह्नाय ।

नवनामानि—1. नवम् 2. नूत्नम् 3. नूतनम् 4. नव्यम् 6. इदा 6. इदानीम् ।

निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में 'जहा' इत्यादि अनवगम-(अवोधगम्य) संस्कार पदों का सङ्कलन है, इनका व्याख्यान यास्क ने निरुक्त में किया है, आगे के अध्यायों में इस व्याख्यान का विशद विवेचन किया जायेगा ।

निघण्टु के पञ्चम अध्याय में अग्नि से देवपत्नय: पर्यन्त पदों का संग्रह है, जिनका देवताध्याय में विवेचन होगा ।

अध्याय षष्ठ

नैघण्टुकनिर्वचन

यास्काचार्य ने निरुक्त के द्वितीय और तृतीय अध्यायों में नैघण्टुकपदों का निर्वचन किया है, अतः सर्वप्रथम, हम निरुक्त के आधार पर इन पदों का निर्वचन उपस्थित करते हैं।

गोनिर्वचन—निघण्टु में पदों के क्रम का प्रयोजन पूर्व पृष्ठों पर बताया जा चुका है। गौः पृथिवी का नाम है, क्योंकि यह हिरण्याण्ड (गर्भ) से सर्वप्रथम पृथक् हुई, इसलिये यह 'भूः' कहलाई और इसीलिये इसका पदक्रम में प्रथम स्थान है।

'गौः' पृथिवी का नाम है, क्योंकि यह दूर तक गई (फैली) हुई है यह 'गौः' पद गम् से निष्पन्न है, क्योंकि पृथिवी पर प्राणि जाते हैं अथवा गा में ओकार कृत् प्रत्यय लगाने से यह 'गो' पद बना। गमन के कारण ही लोक में पशु की 'गो' संज्ञा होती है। वेद में गोपद का तद्धितवत् प्रयोग भी होता है, यथा—

'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्।' (ऋ० 9-46-4)

गो—(पयः=दूध) से मत्सर (तृप्तिकारक सोम) को पकाओ।

सूर्य (आदित्य) को भी गो कहते थे—यथा—'उताद: परुषे गवि' (ऋ० 6-56-3) यहाँ यास्क ने औपमन्यव के प्रमाण से 'परुषे' का अर्थ 'पर्ववति' भास्वति=प्रकाशवान् किया है। 'सुषम्ण' नाम की सूर्यरश्मि को धारण करने के कारण चन्द्रमा को 'गन्धर्वः' कहते हैं, अतः 'गो' का अर्थ रश्मि भी है गाम् (रश्मि) को धारण करने वाला (धर्व)=चन्द्रमा हुआ गन्धर्व। 'गावो भूरिशृङ्गाः

और 'उरुगायः' (विष्णु = सूर्य) पदों में भी गो का अर्थ किरण है। 'उरुगायः' का अर्थ हुआ बहुत (उरु) किरणों (गाय) वाला सूर्य।

निर्ऋति—पृथिवी का एक नाम 'निर्ऋति' है। कृच्छापत्ति को भी 'निर्ऋति' कहते हैं। मन्त्र में कहा—

'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।' (ऋ० 1-164)

'बहुत प्रजा वाला (पुरुष) कष्ट को प्राप्त होता है। पृथिवी वाचक 'निर्ऋति' पद निरमण (√रम्) से नि उपसर्ग पूर्वक 'क्तन्' (ति)प्रत्यय लगाकर बना है और कृच्छापत्ति अर्थ वाला निर्ऋतिः पद 'ऋ' (ऋच्छति-पतन) धातु से बना है।

'गो' वाणी (भाषा) इन्द्रिय (गोचर पद में) आदि अन्य अनेक और अर्थों में भी वेद मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है, विस्तारभय से उदाहरण अलम् है।

पृथिवी के 21 नामों में से यास्क ने 'गो' पद का ही विस्तार से निर्वचन और मीमांसा की है, द्वितीय 'निर्ऋति' पद का संक्षिप्त निर्वचन है, शेष पद इस प्रकरण (नि. 2-2-9) में छोड़ दिये हैं अथवा 'पृथिवी' 'इला' आदि कुछ पृथिवी नामों की अन्यत्र चर्चा की है।

हिरण्यम्—यहाँ पर पदनिर्वचन में 'हिरण्य' पद को लेकर यास्क ने कुछ क्रमभंग कर दिया है, दुर्गाचार्य के अनुसार यह पूर्वचार्यों के अनुकरण पर किया गया है। 'हिरण्य' के पन्द्रह पर्यायों में केवल इसी एक पद का यास्क ने निर्वचन किया—'ह्रियते आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा।' (नि० 2-10) यह खींचकर फैलाया जाता है, हरण किया जाता अथवा जन से जन में इसका परिहरण (विनिमय) होता है अथवा हृदयरमण अथवा हर्यति से यह पद बना है।

अन्तरिक्ष—निघण्टु में 'अन्तरिक्ष' के पर्याय सोलह पद पढ़े गये हैं। द्यु

(1) पृथिवी की प्रथमोत्पत्ति के कारण ही इस पर सर्वप्रथम जीवसृष्टि हुई, आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों के अनुसार सौरमण्डल के नवग्रहों में पृथिवी पर छोड़कर अन्य किसी पर जीव क्या, प्राणवायु का अस्तित्व भी नहीं है, अन्य नक्षत्रों (सूर्यों) के ग्रहों पर जीव हों, यह पृथक् बात है।

लोक और पृथिवी के अन्तरा (अन्तर या मध्य) में निविष्ट (√क्षि=निवासार्थक) है अथवा शरीरों (पिण्डों) के मध्य में अक्षय रूप से निहित है इसलिए इसकी 'अन्तरिक्ष' संज्ञा है। शतपथ (7-1-2-23) के आधार पर 'ईक्ष' पद द्वारा इसकी निरुक्ति पूर्व दिखाई जा चुकी है।

समुद्र :—अन्तरिक्ष का एक पर्याय 'समुद्र' पद भी है, इसका पार्थिव समुद्र से संदेह होता है, इसका निर्वचन इस प्रकार है—'समुद्रवन्त्यस्मादापः। समभिद्रवन्त्येनमापः। सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि। समुदको भवति। समुनत्तीति वा। (नि. 2 10)—'इसमें जलों का उद्रवण (बहाव) होता है, इसमें नदियों का पानी दौड़ता (समभिद्रवन्ति) है। जन्तु इसमें सम्मोदते (मोद) हैं, जल इसमें सञ्चित (समुदक) होता है अथवा विशेष भिगोता समुनत्ति है, अतः इसका नाम समुद्र है।

स्वः—'स्वः' आदि छः द्युलोक और आदित्य के सामान्य नाम हैं यद्यपि इन नामों में 'आदित्य' पद नहीं है, परन्तु यास्क ने इस पद की पूर्व व्याख्या की है। यद्यपि 'आदित्य' का सामान्य अर्थ 'सूर्य' ग्रहीत किया जाता है, परन्तु, मित्र, वरुण, अर्यमा, भग आदि को भी आदित्य कहा गया है, इसका मूल कारण इतिहास है, क्योंकि कश्यपपत्नी अदिति के द्वादश पुत्र 'आदित्य' कहे जाते हैं, क्योंकि अति प्राचीनकाल में एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती थीं. तब पुत्र की ख्याति माता के नाम से होती थी। पाणिनि के तद्धित प्रकरण में सूत्र है—'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' (अष्टाध्यायी 4-1-85 'दिति, अदिति आदित्य और पत्यन्त उत्तर पद से 'ण्य' प्रत्य होता है, अतः अदिति के ये द्वादश पुत्र आदित्य कहलाये—भग, अर्यमा, अंश, मित्र, वरुण, धाता, विधाता विवस्वान् त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु—जैसा कि वेदाचार्य शौनक ने बृहद्देवता में लिखा है—

> भगश्चैवार्यमांशश्च मित्रो वरुण एव च।
> धाता चैव विधाता च विवस्वांश्च महाद्युतिः।
> त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते॥ (5-147-148)

भाषा की दृष्टि से भले ही नैरुक्ताचार्यगण 'आदित्य, और इन्द्रादि पदों

की किसी प्रकार भी व्याख्या कर लें, परन्तु वेदमन्त्रों का इन ऐतिहासिक अदिति पुत्रों (आदित्यों) से घनिष्ठ सम्बन्ध था, विशेषत: विवस्वान् आदित्य (सूर्य), इन्द्र और विष्णु का वेद और भारतीय इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसीलिए प्राचीनकाल में इन्द्र और सूर्य तथा उत्तरकाल में विष्णु की पूजा भारत में सर्वाधिक होती थी। वरुण आदि आदित्यों का सम्बन्ध भारत की अपेक्षा ईरानादि से अधिक था, अत: भारत में इनकी उपेक्षा हुई। भारतीय प्रजा मुख्यत विवस्वान् आदित्य और पुरूरवा ऐड की सन्तान थी—

'आदित्य इमा: प्रजा।' (काठक संहिता)

'द्वय्यो ह वा इदमग्रे प्रजा आसु: आदित्याश्चैवांगिरसश्च।' (शतपथब्राह्मण 3-5-1-13)

'एडीश्च वा इमा: प्रजा।' (काठकसंहिता)

'त्रय: प्राजापत्या देवा मनुष्या असुरा:।' (बृह. उप. 512)

विवस्वान् आदित्य एक प्रजापति थे, इनके दो पुत्र-मनु और यम भी प्रजापति थे, दो अश्विनीकुमार भी विवस्वान् आदित्य के पुत्र थे। हम यह पहिले ही सिद्ध कर चुके हैं कि निर्वचन द्वारा ऐतिहासिक व्यक्ति का अस्तित्व समाप्त नहीं किया जा सकता। यास्कीय निर्वचन का उद्देश्य इतिहास का खण्डन करना नहीं है, उसके मूल अर्थ का प्रकाशन है। अत: वेदमन्त्रों का ऐतिहासिक पृथिवीवासी विवस्वान् आदित्य आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध था, यद्यपि आदित्य, इन्द्र आदि पद अदितिपुत्रों से पूर्व भी थे, परन्तु उनका घनिष्ठ सम्बन्ध मन्त्रों से होगया, इसीलिए यास्क ने लिखा है—'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता', इसलिए विवस्वान् सूर्य को आदितेय कहा गया है—

'सूर्यमादितेयम्।' (ऋ. 10-88-11)

जिस प्रकार अगस्त्य के नाम पर एक तारे का नाम अगस्त्य रखा गया दक्ष की सत्ताईस पुत्रियों (रोहिणी आदि) के नाम से सत्ताईस नक्षत्रों के नाम रखे गये, वशिष्ठ आदि सप्तर्षियों के नाम पर सात प्रसिद्ध तारे सप्तर्षि कहलाये उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव के नाम पर ध्रुव नक्षत्र का नामकरण हुआ, अंगिरा के पुत्र बृहस्पति, भार्गव शुक्र (असुरगुरु) अत्रिपुत्र सोम और सोम पुत्र बुध

(इला का पति और पुरूरवा का पिता) के नाम पर क्रमशः बृहस्पति, शुक्र, चन्द्रमा (सोम) और बुध ग्रहों के नाम रखे गये। प्राचीन द्वीपों, देशों जनपदों पर्वतों, नदियों, नगरों और ग्रामों के नाम भी इसी प्रकार ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर रखे गये थे, अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, दानव मर्क, षण्ड आदि के नाम से योरोपीय देश (डेनमार्क, स्कण्डेनेविया) आदि के उदाहरण पूर्व दिये जा चुके हैं अतः नामकरण की यह प्रवृत्ति प्राचीन भारतवर्ष में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व में थी। भारतदेश का नाम स्वयं ऋषभ पुत्र भरत के नाम से प्रथित हुआ।

यह उदाहरण विस्तार से इसलिए दिये गये हैं कि आकाशस्थ सूर्य (आदित्य) का नाम विवस्वान् आदित्य के नाम पर ही रखा गया था। अतः विवस्वान् आदित्य और सूर्य इन तीनों नामों से ऐतिहासिक और प्राकृतिक दोनों ही सूर्यों का सन्देह होता है, विवस्वान् का एक नाम 'अश्व'[1] भी था, अतः जो नाम अदिति पुत्र विवस्वान् के थे, वे ही पर्याय सूर्य नक्षत्र के होगये। इन चारों नामों का निर्वचन यथास्थान किया जायेगा इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि ऐतिहासिक पुरुषों का नक्षत्रनामों और वेदमन्त्रों से क्या सम्बन्ध है।

यास्क ने प्रमुखतः आकाशीय सूर्य को ही ध्यान में रखकर 'आदित्य' पद का निर्वचन किया है—'आदित्यः कस्मात्। आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासेति वा। अदितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयोगस्त्वस्य।' (नि. 2-13)। 'पृथिवी के रसों को ग्रहण करता है, (दिन में) ज्योतिषों (नक्षत्रों) के प्रकाश को हर लेता है, अथवा यह प्रकाश से दीप्त है। अथवा अदिति का पुत्र होने से इसे 'आदित्य' कहते हैं। परन्तु 'अदितिपुत्र' अर्थ में

---

1. या तो विवस्वान् (अदितिपुत्र) स्वयं तेज दौड़ते थे, या घोड़े पर चढ़कर दौड़ते थे, इसलिये उसकी 'अश्व' संज्ञा हुई, वेद में अश्वान्त मनुष्य नामों की प्रचुरता है, यह पहिले लिखा जा चुका है। 'सूर्य' शब्द का भी यही अर्थ है—दौड़ने या सरकने (सरपट) वाला, द्रष्टव्य, (निरुक्त 12/14), बृहद्देवता (7/128)। विवस्वान् पद का अर्थ है तेजस्वी—दोनों ही सूर्य तेजस्वी थे। प्रत्यक्ष और इतिहास से सिद्ध है।

'आदित्य' का वेद में कम प्रयोग है। यद्यपि 'अदिति' प्रकृति या पृथिवी को भी कहते हैं, परन्तु यास्क को ऐतिहासिक दाक्षायणी अदिति का पूर्ण ज्ञान था, यह भी स्मर्तव्य है।

स्वः (=स्वर्ग) आदित्य (सूर्य) का ही नाम है, इसकी निरुक्ति यास्क ने 'सु अरण:' और 'सु ईरण' अर्थात् श्रेष्ठ गमनकर्त्ता या 'स्वृत रसान्' 'रस या रश्मियों को प्रचुरता से प्राप्त।

पृश्नि:—प्र+अश्नते=तेज दौड़ता या अतिव्यापक है, अथवा रस, ज्योति या प्रकाश को संस्पृष्ट करता है, अतः सूर्य का नाम पृश्नि: हुआ।

नाक:—रस, भास, ज्योति का नेता √नी+शतृ प्रत्यय होने से सूर्य 'नाक' कहा जाता है। 'कम्' सुख को कहते हैं, अकम् न + दुःख का उल्टा सुख।

सुख। अतः सुखदायक होने से सूर्य का नाम 'नाक:' हुआ। स्वर्ग, नाक, द्युलोक आदि सभी सूर्य के नाम हैं। 'द्यौ' 'दिव' या दिवु चमकने के अर्थ से बना, इसी प्रकार 'देव:' शब्द इसी धातु से बना। इनसे मिलती-जुलती 'द्युत' धातु है, जिसका भी यही अर्थ होता है। ये एक ही आख्यात के तीन सादृश्य मूलक रूप हैं—√दिव्, √दिवु और √द्युत्। इन्हीं से द्यु:, देव:, दिव:, दिन: आदि पद बने हैं।

विष्टप्—यह सूर्य का ही नाम है, तीन लोकों को त्रिविष्टप् कहते हैं रस (जल), भास या ज्योति से आविष्ट (आ+√विश्+त: प्रत्यय) होने से यह विष्टप् कहलाता है।

नभ:—नभ: आकाश या सूर्य का नाम है। √नी से 'नेता भासाम्' अथवा 'ज्योतिषां प्रणय: (प्रकाशों का गमन या नयन) अथवा 'भन:' (√भा दीप्तौ) का उल्टा नभ: हुआ।

रश्मि—निघण्टु में रश्मि के पन्द्रह पर्याय हैं। इसकी निरुक्ति 'रश्मिर्य-मनात्' (√यम्)=नियन्त्रण करने से की गयी है।

दिश्—दिश् या दिशा के आठ पर्याय वेद में हैं, यह 'दिशति' रूप (निर्देश) से व्यक्त की गई है।

दिश् के पर्याय काष्ठा की निरुक्ति 'क्रान्त्वा स्थिता भवति' इस प्रकार की है। आदित्य, आपः और आजि (प्रतियोगिता) को भी काष्ठा कहते थे। क्योंकि ये भी क्रमण (√क्रमु पादविक्षेप) करके स्थित होते हैं 'आपः' काष्ठा के अर्थ में निम्न प्रसिद्ध ऋचा में है जो यास्क ने उद्धृत की है—(निरुक्त 2।16)—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥(ऋ. 1।32।10)

'निवेशन और स्थैर्य से हीन काष्ठों (आपों) के मध्य में मेघ या वृत्र का नम्र शरीर स्थित हुआ, जिसका इन्द्र शत्रु है वह वृत्र जलों में विचरण कर रहा है जो दीर्घ अन्धकार में शयन कर रहा है।"

यहीं पर यास्क ने लिखा है—'तत्को वृत्रः। मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः।"

वृत्रः—इस शब्द का निर्वचन यास्क ने इस प्रकार किया है—'वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा।' "आवरण करने से, वर्तमान होने से, या वर्धमान होने से, 'वृत्र' पद बना। यही बात यास्क ने ब्राह्मणप्रवचन से पुष्ट की है—"यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते।" (नि० 2।17) आवरणादि कार्य मेघ और त्वाष्ट्र वृत्रासुर दोनों पर घटते थे, इसीलिये यास्क ने लिखा—'तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णाभवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। यदि मन्त्रों और ब्राह्मणों में मेघ और ऐतिहासिक इन्द्रवृत्र-युद्ध का वर्णन नहीं होता तो युद्ध की उपमा का क्या आधार होता? अतः मन्त्र में दोनों ही अभिप्राय अभिप्रेत हैं, यही यास्क का मन्तव्य है।

रात्रि—इसके 23 पर्याय हैं। इसका निर्वचन 'प्ररमयति' 'उपरमयति' रूपों द्वारा √रम्' से दिखाया गया है। 'राति' (दानार्थक) रूप से भी 'रात्रिः बन सकता है। हमारे मत में तो 'वृणोति' से 'व' का लोप होने पर (अन्धकार छाने के अर्थ में) 'रात्रिः' शब्द बना है। विरमण (√रम्) से भी रात्रि का भाव ठीक बैठ जाता है। इसके आगे उषा के पर्याय हैं।

अहः—इसके 12 पर्याय हैं। इसका निर्वचन यास्क ने इस प्रकार किया है—'उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि' (नि० 2।20) 'मनुष्य मिलकर (दिन में) काम

करते हैं, इसलिये इसका नाम 'अहः' है। 'अहः' के कृष्ण और श्वेत दो भाग हैं (कृष्ण=रात्रि और श्वेत=दिन)—

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः ॥ (ऋ० 6।9।1)

मेघः—इसके तीस पर्याय हैं। इसकी निष्पत्ति 'मेहतीति सतः' इस प्रकार 'मेहति' रूप से की है (√मिह्=सेचने)।

मेघ के तीस नामों में से लोकभाषा और वेदभाषा में पर्वत के 19 पर्याय हैं—अद्रिः, ग्रावा, गोत्रः, बलः, अश्नः, पुरुभोजाः, बलिशानः, अश्मा, पर्वतः, गिरिः, व्रजः, चरुः, वराहः शंबर, रौहिणः रैवतः, फलिगः उपरः और उपलः।

वेद में आपः और मेघ सम्बन्धी पर्याप्त विज्ञान मिलता है। वराह आदि भी मेघ के नाम हैं, इसी नाम के आधार पर वराहावतार की कल्पना की गई, इसका मूल वेदमन्त्र में ही है।

वाक्—इसके निघण्टु में 57 पर्याय हैं। हम पहिले बता चुके हैं कि सभी पर्यायों के अर्थों में सूक्ष्म भेद थे, उत्तरकाल में इनको एकार्थक शब्द माना गया, और अतिभाषा का एक-एक शब्द प्रायः एक-एक भाषा में रह गया, परन्तु अतिभाषा में सभी पर्याय थे। प्रत्येक पर्याय (शब्द) के नामकरण का कोई न कोई वैज्ञानिक कारण था।

वाक् के 57 पर्यायों में से अधिकांश पद ध्वन्यार्थक (शब्दार्थक) आख्यातों (धातुओं) से निष्पन्न हैं। यहाँ पर हम केवल 'वाक्' और 'सरस्वती' पदों की चर्चा करेंगे। 'वाक्' शब्द √वच' से निष्पन्न है, जिसका अर्थ प्रसिद्ध है—बोलना। 'वच' का अर्थ ध्वनि भी होता है। इसी प्रकार 'सरस्वती' शब्द का अर्थ होता है सरः (ध्वनि) वती=ध्वनिवती वाणी या नदी। इन दोनों में ही ध्वनि होती है 'सरस्' का अर्थ 'जल' भी होता है, नदी का जल ध्वनि (शब्द) करता है, इसलिये जलों से शब्द करने वाली का नाम हुआ 'सरस्वती', इसलिये सामान्य ध्वनि वाली को भी सरस्वती कहा गया। 'नदी' शब्द का निर्वचन भी इसी प्रकार है। नद या नाद का अर्थ आवाज होता है नद=(शब्दवती) ही नदी हुई। इस आधार (ध्वनि या शब्द) पर सरस्वती और नदी शब्द पर्याय हुये। इसीलिये यास्क ने लिखा है—"सरस्वतीत्येतस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा

भवन्ति।'' सरस्वती और नदी के देवतावत् और नदीवत् निगम (शब्दार्थ निर्वचन) होते हैं। सरस्वती को नदी या वाणी कुछ भी माना जाय, मन्त्र में दोनों ही देवता हैं और उनका समान अर्थ है। अतः पाश्चात्यानुगामी श्री काशीनाथ राजवाड़े आदि का यह मानना कि ऋग्वेद में वाग् रूप सरस्वती देवता का उल्लेख नहीं हुआ है, सरासर अज्ञान और अन्याय है, अतः 'सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः' (ऋ० 6।61।2) में वाग्रूप और नदी रूप दोनों ही स्तुतियाँ हैं, क्योंकि केवल इसे नदी की स्तुति माना जाय तो नदी भी तो वाणी का नाम है, (नद=ध्वनि=वती=नदी=वाणी) सरस्वती को 'सुवृक्तिभिः' (स्तुतियों) और धीतिभिः (बुद्धियों) से सेवा करना वाक् के लिये अधिक सार्थक है न कि जलवाली नदी के लिये।

उदकम्—निघण्टु या वेद में सर्वाधिक (101) पर्याय जल के ही हैं। यास्क ने केवल 'उनत्तीति सतः'=भिगोता है इतनी ही उदक की निरुक्ति की है। अन्यत्र बुबूक आदि उदक पर्यायों का निर्वचन किया है। वैदिक संहिताओं में उदक का अर्थ निर्वचन इस प्रकार है—'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (मै० स० 2।13।10)।

नदी—इसके 37 पर्याय हैं। यास्क ने लिखा है कि ये नदियाँ शब्दवती होती है इसलिये इनको ऐसा कहते हैं—'नदना इमा भवन्ति। शब्दवत्यः (नि० 2।24)। नदी का विशेष विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

अश्वः—निघण्टु में 26 पर्याय हैं। इनमें से अन्तिम आठ बहुवचन में ही वेद में प्रयुक्त हुये हैं। अश्व निर्वचन इस प्रकार है—'अश्वनुतेऽध्वानम्' महाशनो भवतीतिवा (नि० 2।27) जो मार्ग को व्याप्त करता है या बहुत खाने वाला होता है (क्योंकि √अश) के व्याप्त करना और खाना दोनों ही अर्थ होते हैं)

वेद में अश्व और उसके पर्याय दधिक्रा इत्यादि का अर्थ केवल घोड़ा नहीं है, वे अनेकार्थक है यथा नक्षत्रों या सूर्य को भी अश्व कहते हैं। वेद में सूर्य के सात हरित (अश्व) कहे गये हैं—'

'सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति सूर्य। (ऋ० 1।50।8)।

निघण्टु में लिखा है कि इन्द्र के दो घोड़े हरी कहलाते हैं। अग्नि का अश्व रोहित है। आदित्य (सूर्य) के (सप्त) अश्व हरित हैं। सूर्य के अश्वों (किरणों) का नाम ही श्येनाः, सुपर्णाः, हंसासः, पतङ्गा आदि है।

कर्म—इसके अपः, अप्नः कर्वरम् शची इत्यादि 26 पर्याय हैं। कर्म शब्द की निष्पत्ति क्रिया (क्रियते) से हुई है।

अपत्यम्—इसके 15 पर्याय हैं। 'अपत्यं कस्मात्। अपततं भवति। नानेन पततीति वा।' (नि० 3।1) "अपतत (विस्तृत=सन्तति) होता है अथवा इससे (पुत्रादि) से वंश पतित नहीं होता अतः यह 'अपत्यम्' है। अपत्य के सन्दर्भ में यास्क ने 'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः' (ऋ० 7।4।7) और 'नहिग्रभायारणः सुशेवः' (ऋ० 7।4।8) ये दो ऋचायें उद्धृत की हैं, जिनमें औरसभिन्न दायाद की निन्दा की है, इससे प्रतीत होता है कि उस समय (यास्ककाल) में यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण था कि निरुक्त जैसे शास्त्र में यास्क ने इसका विवाद उठाया। मनुस्मृति का एक श्लोक भी उद्धृत किया है—

> अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
> मिथुनानां विसर्गादौ मनुःस्वायंभुवोऽब्रवीत्॥

मनुष्यः—'मत्वा कर्माणि सीव्यतिः' मनन करके या जानकर मनुष्य कार्य करता है। अथवा 'मनस्यमानेन सृष्टाः। मनस्यतिपुनर्मनस्वीभावे। मनोरपत्यम्। मनुषोवा।" "चिन्तन करके मनु ने उत्पन्न किया, अथवा मनस्वी (मनोयुक्त=बुद्धियुक्त) होने कारण, अथवा मनु का अपत्य होने से 'मनुष्य' नाम हुआ।

मन्त्रों में नहुषः, यदवः, अनवः, पूरवः, द्रुह्यवः, और तुर्वशाः, मनुष्य के पर्यायवाची हैं। हम पूर्व लिख चुके हैं कि नाम सनातन हैं, ययातिपुत्रों ने यदु आदि नाम वेदपदों से लेकर रखे। परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है कहीं-कहीं ऐतिहासिक यदु आदि का उल्लेख भी है।

पञ्चजनाः—यह मनुष्य का पर्याय है। ऋग्वेद का मन्त्र उद्धृत है—

> तद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
> ऊर्जाद् उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्। (ऋ० 10।54।4)

"हे देवो ! मैं आज वाणी के महत्व को जानता हूं, जिस (भाषा) ने असुरों को जीत लिया। हे अन्नभक्षी और यज्ञिय पञ्चजनो। मेरे होत्र (यज्ञ) की उपासना करो।"

इस मन्त्र से भी सिद्ध है कि देव और असुरों का ऐतिहासिक युद्ध हुआ था, इस मन्त्र का स्पष्ट भाव है कि देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त की थी, इसको पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में कि 'पञ्चजन' कौन है, यास्क ने बिभिन्न मत उद्धृत किये हैं। एक मत से गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस-पञ्चजन हैं, औपमन्यव के मत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पाँच वर्ण पञ्चजन हैं, इस सम्बन्ध में शौनक ने ऐतरेय ब्राह्मण का मत उद्धृत किया है—'गन्धर्व, अप्सरा, देव, मनुष्य, पितर और नाग ये पञ्चजन हैं। आत्मवादियों के मत में चक्षुः, श्रोत्र, मनः, वाक् और प्राण-पञ्चजन हैं।

बाहुः—मनुष्य बाहुओं से कर्मों को बाँधता या सम्पन्न करता है इसलिये इनका यह नाम है—'प्रबाधते आभ्यां कर्माणि'; (नि० 3।8)।

अङ्गुलिः—इसका निर्वचन इस प्रकार है—अग्रगामिनी, अग्रगालिनी (गलनेवाली या गलानेवाली), अग्रकारिणी, अग्रसारिणी अथवा अङ्कित होती है या अञ्चना (प्राप्त होने वाली), या अभ्यञ्जन करती हैं अतः ये अङ्गुलि कहलाती हैं। अङ्गुलि के पर्याय—अवनयः, कक्ष्याः, योक्त्राणि, योजनानि, अभीशवः, प्रजरसः और धुरः एक ही मन्त्र में उल्लिखित हैं—

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।

दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दशधुरो दशयुक्ता वहद्भ्यः॥ (ऋ० 10।94।7)

अन्नम्—इसके 28 पर्याय हैं। इसका निर्वचन यास्क ने इस प्रकार किया है—"अन्नं कस्मात्। आनतं भूतेभ्यः। अत्तेर्वा।" (नि० 3।9)। 'अन्न किससे? प्राणियों के लिये नमन करता है (झुकता) है। अथवा √अद= (भक्षणे) से 'क्तः' प्रत्यय लगाने पर बना है (त को नकार होने पर)। श्री सिद्धेश्वर वर्मा ने 'आनतं भूतेभ्यः' इस निर्वचन की आलोचना की है और लिखा कि 'अन्न' शब्द की व्युत्पत्ति एक साधारण विद्यार्थी भी बता सकता है

(अद धातु से)। पं० भगवद्दत्त ने इस सम्बन्ध में वर्मा जी की कठोर आलोचना की है—"व्युत्पत्ति और निर्वचन में महदन्तर है......वर्मा को इस विद्या का न ज्ञान था, न है।" तथा पण्डितजी ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका एक अंश है—'स्विन्नमन्नमुदाहृतम्' 'पककर नरम हो जाने को' 'अन्न' कहते हैं।" (निरुक्तशास्त्र (पृ० 163-164)। अन्न का एक पर्याय निघण्टु में ही 'नमः' है, एक अन्य पर्याय 'पितुः' है जिसका अंग्रेजी आदि में 'फूड' रूप मिलता है।

धनम्—इसको 'धिनोति' से निष्पन्न माना है, जिसका अर्थ है तृप्ति करना। या प्रीतिकारक अर्थ भी होता है।

गो के अघ्न्या आदि नौ पर्यायों में से किसी भी व्याख्या नहीं की। यहां 'गो' पृथ्वी नामों से पृथक् पढ़ा गया है।

क्रोधादि के पर्यायों का हमने निघण्टुकोशसङ्कलन में संग्रह कर दिया है।

तडित्—विद्युत् को तडित् कहते हैं—'सा ह्यवताडयति। दूराच्च दृश्यते'' वह ताडती (मारती) है। 'तडित्' निकटता का भी पर्याय है।

वज्रः—'वर्जयतीति सतः'; वर्जित करने (या वध) करने से इसका नाम वज्र (वर्जक) है। इसके 18 पर्यायों में 'एक कुत्स' भी है, कुत्स की निष्पत्ति √कृन्त (काटने) से है।

ईश्वरः—इसके चार पर्याय हैं। ईश्वर का मुख्य अर्थ स्वामी है, इसके पर्याय 'इनः' का वेद में बहुधा प्रयोग है—

इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः (ऋ० 1।164।21)

इनः का निर्वचन है—'सनित ऐश्वर्येणेतिवा, सनिजमनेनैश्वर्यमिति वा", (नि० 3।11), ऐश्वर्य को प्राप्त या ऐश्वर्यसहित।

बहु—इसका निर्वचन √भू से है, 'भ्' का 'ब' हो गया है, परन्तु 'भूयान्' 'प्रभूत' आदि में भ ही अवशिष्ट है।

ह्रस्वः—√ह्रस (घटने—या कम अर्थ में) से ह्रस्वः बना है।

महत्—इसके 25 पर्याय हैं। √मह या √मंह से ये रूप बना है। इसी

प्रकार गृह, रूप, प्रशस्य, प्रज्ञा आदि के लघु निर्वचन यास्क ने बताये हैं। इन सबको उद्धृत करके हम ग्रन्थ विस्तार नहीं करना चाहते।

तस्कर:—इसका एक पर्याय वनर्गु है—'वनर्गू वनगामिनौ' चोर या दस्यु प्राय: निर्जन वन में रहते हैं अत: उनकी संज्ञा हुई वनर्गु।

इसका एक पर्याय 'तपु:' है, जिससे अंग्रेजी का 'थीफ' (thief) बना। 'त' का 'थ' और 'प' का 'फ' हुआ, ग्रिम—नियम के अनुसार। 'तप्' या 'तस्' पाप या 'चोरी' की संज्ञा थी, इसीलिये क्रमश: 'तपु:' और 'तस्कर' शब्द बने। यास्क ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है—'तस्करस्तत्करोति यत्पापकमिति नैरुक्ता:; (नि० 3।14)।

देवर:—'द्वितीयो वर उच्यते' 'द्वि' का 'दे' बन गया, अत: रूप हुआ देवर:।

विधवा—इसका निर्वचन विद्वानों को कुछ आकर्षित करता है—'विधवा विधातृका भवति, विधवनाद्वा। विधावनाद्वेति चर्मशिरा:, (नि० 3।15)। बिना धाता (धरने वाले) के होती है। √धूञ् का प्रसिद्ध अर्थ है कम्पन, परन्तु इसके अनेक अर्थ हैं और अनेक गणों में परिगणित है इसका एक अर्थ धोना भी होता है, विधवा धौत श्वेत वस्त्र पहनती है, इसलिये भी इसे विधवा कह सकते हैं। चर्मशिरा आचार्य के मत में इधर-उधर (विधावनात्) भागने के कारण यह विधवा कही जाती है।

जार:—इसका ही अपभ्रंश: है हिन्दी का 'यार' शब्द, जो प्राय: कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त होता है। यास्क ने लिखा है—आदित्योऽपजार उच्यते' रात्रेर्जरयिता। स एव भासाम्।' (नि० 3।16), "रात्रि को जीर्ण करने के कारण सूर्य जार कहा जाता है, वह अन्य तारों की ज्योति को भी जीर्ण करता है। 'स्वसुर्जार: शृणोतु न:' (ऋ० 6।55।5) मन्त्र में यहाँ स्वसा उषा का जार (आदित्य) कहा है, अथवा यहाँ मनुष्य जार (व्यभिचारी) भी अभिप्रेत हो सकता है।

'था' प्रत्यय—वेद में पञ्चथा, 'सप्तथा' 'म' के स्थान पर प्रयुक्त होता था, इसी प्रकार—'प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' (ऋ० 5।44।1) में 'था' प्रत्यय प्रत्न, पूर्व, विश्व और इम के साथ लगा है। यह प्रत्यय उत्तरकालीन संस्कृत में

नहीं मिलता, परन्तु अंग्रेजी के फिफ्थ, सेवेन्थ आदि में मिलता है। अतः अंग्रेजी का मूल प्राचीन दैत्यभाषा है जो अतिभाषा का ही एक म्लेच्छ (विकृत) रूप थी, यह पार्थक्य वामन विष्णु और असुर बलि के समय हो गया था।

ऋषिनामनिर्वचन—यास्क ने अनेक ऋषिनामों का इस प्रकार निर्वचन किया है—'अर्चिषु भृगुः सम्बभूव। भृगुर्भृज्यमानो न देहे। अङ्गारेष्वङ्गिराः अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुः। तस्मादत्रिः। न त्रय इति। विखननाद् वैखानसः। भरणाद्भरद्वाजः। विरूपो नानारूपः", (नि० 3.17) 'अर्चियों में भृगु (भृजुः=भृगुः) हुआ। भृज्यमान (भुनता) हुआ जला नहीं। अङ्गारों से अङ्गिरा पैदा हुआ। यहीं तीसरे को खोजो, ऐसा ऋषिगण या देव बोले। इसलिये अत्र+त्रि (अत्रिः) नाम हुआ। विखनन (खोदने) से वैखानस और भरण पोषण से भरद्वाज नाम प्रसिद्ध हुये।

इन आख्यानों का प्राकृतिक घटनाओं से सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु भृगु, अङ्गिरा और अत्रि का मानवीय इतिहास से भी पूर्ण सम्बन्ध है, यह स्वस्थबुद्धि प्रत्येक नैरुक्त मानेगा। आदिम भृगु, अङ्गिरा और अत्रि का सम्बन्ध चाक्षुषमन्वन्तरकालीन प्रजापति प्रचेता से था, इसका पुत्र दक्ष हुआ, भृग्वादि दक्ष के भ्राता और प्रचेता के पुत्र थे।[1] उत्तरकाल में भृगु को वरुण का पुत्र माना गया। प्रचेता, भृगु और वरुण के इतिहास में प्राचीन काल में ही कुछ गड़बड़ हो गई थी, इसका विवेचन 'इतिहास' में किया जायेगा। ऐतरेय, शतपथादिब्राह्मणों में ही भृगु को वरुण का पुत्र कहा है, अतः यह गड़बड़ महाभारत या व्यास से पूर्व ही हो गई थी, अतः इसका समाधान कठिन है।

पशुपक्षिनामनिर्वचन—यास्क ने उपमा, लुप्तोपमा और अर्थोपमा के प्रसङ्ग

---

1. एक ओर भृगु वरुण के पुत्र हैं तो भृगु की भगिनी अदिति के पुत्र वरुण हैं, वरुण और विष्णु अदिति के पुत्र हैं, परन्तु विष्णु की पत्नी भृगु की पुत्री थी, इसी प्रकार सोम की कन्या दक्ष को ब्याही और दक्ष की 27 कन्यायें सोम को ब्याही यहाँ इतिहास में कुछ न कुछ विस्मृति अवश्य है, पुराणों में इस गड़बड़ का सङ्केत है।

में कुछ प्रसिद्ध पशु-पक्षियों के नामों का निर्वचननिदर्शन प्रस्तुत किया है—यथा सिंह और व्याघ्र की उपमा पूजा (महत्ता) अर्थ में होती है और श्वा (कुत्ता) और काक की अर्थोपमा कुत्सित अर्थ में की जाती है। 'काक' यह नाम कुछ नैरुक्तों के मत में कौऐ की ध्वनि (कांव-कांव) का अनुकरण है। यह शब्दानुकृति पक्षिनामों में बहुधा मिलती है। औपमन्यव के मत में यह शब्दानुकृति नहीं है। 'काक' उपकालतव्यो भवति' अर्थात् काक (कौआ) अपवित्रता के कारण बहिष्करणीय (त्याज्य) है।

'श्वा' का निर्वचन है—'शु' यायी शवतेर्वास्याद् गतिकर्मण: श्वसितेर्वा।" (नि० 3।18)। 'श्वा शीघ्र दौड़ता है, गत्यर्थक √शव से भी 'श्वा' बना हो सकता है अथवा श्वस (श्वसिति)=साँस लेने से हो सकता है क्योंकि कुत्ता तेज साँस लेता है, विशेषत: ग्रीष्मकाल में।

'सिंह' का निर्वचन सहने से या हिंसा से हन्ति (मारने) से हो सकता है। 'हिंस' का विपरीत 'सिंह' बन सकता है यह विपर्यय का उदाहरण है।

यज्ञ—यह स्पष्टत: ही √यज् से व्युत्पन्न है, लेकिन यास्क ने याञ्चा' आदि से भी इसकी निरुक्ति संभावित की है।

ऋत्विक्—'ऋ' धातु गत्यर्थक या सत्यार्थक है जिससे 'ऋत' शब्द बना। इसी से अंग्रेजी का 'राइट' (Right) अपभ्रंश हुआ। ऋत में 'उ' प्रत्यय लगाने पर 'ऋतु:' पद बना। ऋतु में यजन करने वाला 'ऋतुयाजी ही ऋत्विक् (ऋत्विज्=ऋतु+इज्) हुआ। अथवा ऋतु में ईरण (प्रेरणा) करने से अथवा ऋचा से (ऋग्यष्टा) यजन करने से भी यह 'ऋत्विक्' बन सकता है।

दभ्रम्—दर्भम् और अर्भकम् ये अल्पवाची हैं। दम्नोति से दभ्र और अवहृत (लघु किया जाना) ही अर्भक है।

ऋक्ष और स्तृ—ये तारों के नाम हैं। ऋक्षा: सप्तर्षि तारों को भी कहते थे। इसको अंग्रेजी में 'ग्रेट बीयर (great Bear) कहते हैं। ऋक्ष रीछ को भी कहते हैं। 'स्तृ' का रूप ही तारा और स्टार है। 'नक्षत्र' 'नक्षतेः गतिकर्मा' धातु से बना है, अथवा न क्षिणाति (न पतति) से। ऋक्ष—ऊपर गति करने (उत्+ईर्णानि)से और स्तृ आकाश में बिछे (स्तीर्णानीव) हुये से प्रतीत होने से कहे जाते हैं।

शेप: और वैतस:—ये दोनों पुरुष की प्रजननेन्द्रिय के नाम हैं। 'शेप:' का अन्य अर्थ भी होता है, यथा शुन:शेप आदि में। विष्णु के नाम 'शिपिविष्टि:' में भी यह आख्यात निहित है। परन्तु यास्क ने प्रजनेन्द्रियार्थक अर्थ को पुष्ट करने के लिये दो ऋगंश उद्धृत किये हैं—

'यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्', (ऋ० 10।85।37)
'त्रि: स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन', (ऋ० 10।95।5)

'शेप: शपते: स्पृशतिकर्मण:', 'वैतसो वितस्तं भवति,, (नि० 3।21)।

'शेप: शप धातु से स्पर्श अर्थ में, और वैतस संकुचित होता है।

द्यावापृथिवी आदि का व्याख्यान और निर्वचन दैवतप्रकरण में किया जायेगा।

अध्याय—सप्तम

(अनवगतसंस्कारपदनिर्वचन)

(ऐकपदिक)

आचार्य यास्क ने निरुक्त में चतुर्थ से षष्ठ अध्यायपर्यन्त अनवगत संस्कारपदों का व्याख्यान किया है। इनको 'ऐकपदिक' भी कहते हैं, क्योंकि इन अध्यायों में एकपदों की व्याख्या की है।[1] जिन पदों का वैयाकरणिक स्वरूप (प्रकृति-प्रत्यय) सरलता से ज्ञात नहीं हो, वे 'अनवगतसंस्कारपद' हैं। यास्क ने इन अध्यायों में जिन पदों का व्याख्यान किया है, वे सभी 'अनगवत-संस्कारपद' प्रतीत नहीं होते; तथा च विस्तारभय से केवल कुछ महत्त्वपूर्ण पदों का ही यास्कीय व्याख्यान का समालोचन करेंगे।

जहा—आचार्य ने चतुर्थ अध्याय में सर्वप्रथम इसी एकपद का व्याख्यान किया है—

'जहा जघानेत्यर्थः (4।1)

'जहा' का 'जघान' अर्थात् 'मारा' यह अर्थ है। तदनन्तर यह मन्त्र उद्धृत किया है—

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्।
जहा को अस्मदीषते। (ऋ० 8।45।37)।

मर्या—यह मर्यः से मर्या मनुष्य का नाम है अथवा 'मर्यादा' का अभिधान

---

1. 'एकपदानां व्याख्यानम् ऐकपदिकम्'—(स्कन्द)—एक-एक पद का व्याख्यान 'ऐकपदिक' कहलाता है।

है । पुराकाल और अब भी भारत में मृतपुरुष का ग्राम की सीमा के बाहर दाह करते हैं अत: ग्रामसीमा का मृत (मर्य) से सम्बन्ध होने से उसकी 'मर्यादा' संज्ञा हुई ।

शिताम्—यास्क ने यजुर्वेद (21।43) से मन्त्रांश उद्धृत किया है—

'पार्श्वत: श्रोणित: शितामत:'

यहाँ पर शिताम्' पद अनवगतसंस्कार और अनेकार्थक पद है । यास्काचार्य ने अनेक पूर्वाचार्यों के मत प्रदर्शित करते हुए इस पद की विस्तृत व्याख्या की है, इसका निर्देशनमात्र द्रष्टव्य है—एक मत से 'शिताम्' भुजा का नाम है, शाकपूणि मत से यह योनि की संज्ञा है, तैटीकि के मत में यह कृष्ण यकृत् का अभिधान है । यकृत काटा (कृत्यते) जाता है, अत: उसकी यह संज्ञा है । आचार्य गालव के मत में 'शिताम्' का अर्थ श्वेतमांस (मेद=चर्बी) से है । 'शिति' (श्यति) तनूकरण अर्थ में है ।[1]

राध:—यह धन की संज्ञा है, अथवा आराधना को राध: कहते हैं । राँधने अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है ।

दमूना—यास्क ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है—'दमूना दममना वा । दानमना वा । दान्तमना वा । अपि वा दम इति गृहनाम । तन्मना स्यात् ।' (नि० 4-4) ।

'दान्त मन वाला दानी मन वाला ही दमूना है, 'दम' घर का नाम है । घर-घर में होने के कारण 'अग्नि' की 'दमूना' संज्ञा है ।

मेहना—यह धन का नाम है । स्कन्द के अनुसार 'मेहना' एक पद है । गार्ग्य के मत में (म+इह+ना) तीन पद हैं । यास्क ने इसी मत को लिखा है—'यन्म इह नास्तीति वा । त्रीणि मध्यमानि पदानि' (नि०4-4) । महनीय, मंहनीय [पूजनीय) या मेहनशील [वर्षणयोग्य] ही धन 'मेहना' है मह् 'मिह्' से मेघ और 'मघ' पद निष्पन्न हुये हैं ।

कुरुतन आदि पद—वेद मन्त्रों में कुरुतन, कर्त्तन, हन्तन यातन इत्यादि

1. निरुक्त (4।3) ।

लोट् बहुवचन में प्रयोग है, यास्क के मत में 'कुरुतन' आदि में 'न' अक्षर सर्वत्र निरर्थक है, लेकिन यह वेदोत्तरकालीन व्याकरणों या लौकिक भाषा की दृष्टि से ही है वेद में 'तन' प्रत्यय सार्थक ही था। जिस प्रकार अनेक धातुओं में 'टु'[1] और 'डु'[2] अनुबन्ध दैत्य-देवयुग में सार्थक थे और भाषा में इनका प्रयोग होता था। परन्तु इस समय वेदमन्त्रों तक में 'टु' या 'डु' का धातु के साथ प्रयोग नहीं मिलता, परन्तु अंग्रेजी में 'डू' (Do) क्रिया से इसके प्रयोग की पुष्टि होती है, इसी प्रकार 'डुपचष्' का ही एक रूप ड्रिंक (Drink) है, यहाँ पर भी 'डु' क्रियांश अवशिष्ट है।

तितउ—छाननी या छन्नी के अर्थ में यह पद वेदमन्त्र में आया है 'सक्तु-मिव तितउना पुनन्तो यत्र' (ऋ० 10-71-2)। जिसमें सफाई या परिपवन हो वह छन्नी है, क्योंकि इसमें छेद (तुन्नवत्) होते हैं अतः इसकी यह संज्ञा हुई। तितउ के समान प्रउग में भी स्वरसन्धि नहीं हुई। यह वैदिक सन्धि के विशिष्ट उदाहरण है।

मन्दू—यह √मद या √मदि से प्रत्यय लगाकर बना है यास्क ने लिखा है 'मन्दू मदिष्णू' सदा प्रमुदित [हर्षित] इन्द्र और मरुद्गण।

ईर्मान्तास:—निम्न मंत्र में अनेक पद अनवगतसंस्कार है—

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः संशूरणासो दिव्यासो अत्याः।

हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः (ऋ. 1-163)

यास्क के व्याख्यान एवं ब्राह्मणप्रवचनों से प्रतीत होता है कि इस मंत्र में उल्लिखित अश्व (घोड़े) लौकिक नहीं हैं, स्वयं मंत्र में दिव्याश्वों का संकेत है। ये दिव्य अश्व ग्रह नक्षत्रादि ही है। 'ईर्मान्तासः' का अर्थ है श्रेष्ठ या पृथु स्थूल अन्त वाले—'समीरितान्ताः। पृथ्वन्ता वा।' 'सिलिकमध्यमाः का अर्थ है संगत मध्यम वाले या दीर्घमध्यम वाले।

लोधम्—'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' (ऋ० 3-53-23)। यहाँ 'लोध'

---

(1) यथा—'टुनदि' और 'टुमस्जो' इत्यादि में।
(2) 'डुकृञ्' डुदाञ्' और 'डुपचष्' इत्यादि में।

का अर्थ लुब्ध या लोभी है—'लुब्धमृषि नयन्ति पशु' मन्यमाना' (नि० 4-14)

शीरम्—यह अग्नि के विशेषण के रूप में है। अनुशायी—सर्वभूतों में स्थित (शयनशील) अग्नि।

कनीनका—यहाँ कन्या होती है, कन्या=कमनीया। अथवा कनतेः कान्ति वाची धातु से यह निष्पन्न है।

तुग्वनि—तुग्व तीर्थ या घाट होता है, क्योंकि जन स्नानार्थ शीघ्र (तूर्ण) यहाँ आते हैं।

शुन्ध्यु:—शोधन करने के कारण यह सूर्य की संज्ञा है।

अद्मसत्—अद्म या अद्म अन्न है, उसको देने वाली (सत्) सादिनी उषा है।

इष्मिण:—यह मरुतों का विशेषण है—वे इष्मिण:=गति (इण्) वाले, इच्छा (इष्) या दृष्टि (ईक्षण) वाले हैं।

परितक्म्या—इसकी व्याख्या निरुक्त 11-25 में इस प्रकार की है—'परितक्म्या रात्रिः। परित एनां तकम्। तक्मेत्युष्णनाम रात्रि के चारों ओर उष्ण (गर्मी) होती है। परितकन का एक अर्थ परिभ्रमण है। यह देवशुनी का विशेषण भी हो सकता है, क्योंकि श्वा (या शुनी) रात्रि में परिभ्रमण करते हैं।

दयते—इसके अनेक अर्थ हैं—रक्षा, दान, विभाग, दाह, दयामान या उड्डयन। मंत्रों में कुछ प्रयोग द्रष्टव्य है—'दयमानाः स्याम (मै० सं० 4-13 7)। 'दयते वनानि' (ऋ० 6।6।5), 'दयमानो वि शत्रून् (ऋ० 3।34।1, 'वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्'। उपर्युक्त मंत्रों में क्रमशः दया, दाह, हिंसा और उड़ने के अर्थ में 'दय' प्रयुक्त हुआ है।

अकूपारस्य दावने—अकूपार आदित्य, समुद्र दूरपार, महापार और कच्छप को कहा जाता है। 'अकूरपारस्य दावने' का अर्थ हुआ पार न हो सकने वाला या पूर्ण दान। कच्छप को अकूपार इसलिए कहते है कि वह 'अकूपार कूप को नहीं जाता है, न कूपमृच्छतीति।

सुतुक:—अग्नि सुगति अश्वों द्वारा सुगमन है। इसी प्रकार 'सुप्रयाणा:' भी सुप्रगमना:' है।

अप्रायुव:—अप्रायुवोऽप्रमाद्यन्त:। रक्षिताश्च। 'अव' या 'यु' धातु से 'अप्रायुव:' पद बना है जिसका अर्थ है अप्रमादशील या रक्षिता है।

च्यवन:—इसी प्रकार यह शब्द भी √च्युतिर् क्षरणे से निष्पन्न है।

रज:—रज: रजते: रूप से (रंग) बना है। ज्योति:, उदक, लोक और असृ-गहनी (रात्रि-दिन) रज: कहे जाते हैं, क्योंकि इनका रूप या रंग होता रहता है।

व्यन्त: या वी—इसके अनेक अर्थ हैं, व्यन्त: का अर्थ देखना (पश्यति) वीहि (खाना) इत्यादि है।

उस्रिया—यह गौ: का नाम है। क्योंकि इससे क्षीर का स्रवण होता है।

जामि—यह अनेकार्थक पद है, इसका अर्थ भगिनी, मूर्ख या समान जातीय है।

शंयु:—'शं' सुख या शान्ति को कहते हैं, अत: 'शंयु' का अर्थ हुआ सुख प्राप्त कराने या मिलाने (√यु मिश्रणामिश्रणयो:) वाला। शंयु एक सामान्य संज्ञा है, परन्तु बृहस्पति आंगिरस का एक पुत्र भी शंयु बार्हस्पत्य था, इससे पूर्व भी यह शब्द था, यह मानना उचित है।

जसुरि:—निम्न मंत्र में अनेक पद अनवगतसंस्कार हैं—

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥

(ऋ० 4।38।5)

वस्त्रमथि, तायु, भर:, जसुरि: और श्येन:। वस्त्रमथि (वस्त्रहरणकर्त्ता) और तायु स्तेन (चोर) के लिए हैं। भर: संग्राम का नाम है। जसुरि (—जसु =क्षेपणे) श्येन (बाज) का विशेषण है, जसुरि: का अर्थ है वेगगामी या शीघ्र आक्रांता। श्येन प्रशंसनीय गमन करने वाले पक्षी (बाज) को कहते हैं।

दंसय:—'दंसय: कर्माणि' (नि० 4।24) दंसय: कर्म का नाम है।

गातु:—यह—गम् या—गा से गमन अर्थ में है, जिसका अर्थ है मार्ग।

तूताव—यह वृद्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

चयसे—यह घातयति (नाश करने) अर्थ में है।

पियारुम्—'पीयतिर्हिंसाकर्मा' पीयति का अर्थ है मारना 'देवपीयुः' का अर्थ हुआ 'देवों को मारने वाला।' यही अर्थ 'पियारुः' का है।

वियुते——यु धातु मिश्रणामिश्रण अर्थ में प्रसिद्ध है, उसी से यह पद बना है। मंत्रों में प्राय: द्यावापृथिवी के प्रसंग में है जो दूर-दूर हैं—'समान्या वियुते दूरेऽन्ते' (ऋ० 3।54।7)।

सस्निम्—यह संस्नात मेघ की संज्ञा है।

अन्धः—आध्यायनीय होने से यह यह 'अन्न' का नाम है।

असश्चन्ती—'असज्यमाने' न मिले हुये (द्यावापृथिवी)।

वनुष्यति—यह हिंसार्थक प्रयोग है—'वनुयाम वनुष्यतः' (ऋ० 8।40।7)

दूढ्यः—दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्'—यह पापी या मूर्ख का नाम है।

तरुष्यति—यह भी हिंसार्थक धातु है।

भन्दना—स्तुति को कहते हैं।

नदः—इसका अर्थ है स्तुति (या ध्वनि), ध्वनिवती होने से ही सरिता को नदी कहते हैं।

ऊति—अवनात् (—अव) से संप्रसारणपूर्वक ऊतिः (रक्षा) पद बना है।

पड्भिः—सोमपानों या स्पर्शों की संज्ञा है—'पानैरिति वा। स्थानैरिति वा। स्पर्शनैरिति वा।' (नि० 5-3)।

ससम्—'ससं न पक्वमाविदच्छुचन्तम्' (ऋ० 10-79-3) सुप्त (विलीन) माध्यमिक ज्योतिः (विद्युत्) जो अनित्यदर्शना है, उसको पुनः जाज्वल्यमान रूप में पाया।

द्वा:—यह दास्य, प्रेष या सेवक की संज्ञा है।

वराहः—वेद में यह महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक पद है। यह मुख्यत 'मेघ' की

संज्ञा थी, जिससे पुराणों में 'वराहावतार' की कल्पना उपबृंहित हुई। मेघों ने सृष्टि के आदि में पृथिवी का उद्धार किया। वे मेघ स्वयम्भू (ब्रह्मा=विशाल) या स्वयम् उत्पन्न थे। उत्तरकाल में वराह (मेघ-को विष्णु का अवतार माना गया। निरुक्त में 'वराह' पद के अनेक निर्वचन हैं जो द्रष्टव्य हैं– 'वराह मेघ होता है, वराहार: (उत्तम आहार:) पशु (शूकर) को वराह कहते हैं क्योंकि वह मुख से जड़ों को उखाड़ता (वृहति) है। वेद में जलों को चुराने या हरण करने वाले मेघ को वराह कहा है 'वराहमिन्द्र एमुषम्' (ऋ० 8-77-10) अङ्गिरस या बृह्मणस्पति भी वराह कहे जाते हैं, क्योंकि मेघ में अग्नि और रस दोनों हैं अत: यह मेघ की संज्ञा (अंगिरस) है—

'पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून्।' (ऋ० 1-88-5)

स्वसराणि—दिन या अहानि की संज्ञा है।

शर्या—यह अङ्गुलियों का नाम है, क्योंकि कर्मों को सृजती हैं इषु: (सरकण्डे) भी शरा: हैं। यह शर: √शृ (शृणाति=हिंसा) से निष्पन्न है।

अर्क:—देव को पूजते (अर्चति) हैं इसलिये वह अर्क है, मन्त्र को भी अर्क कहते क्योंकि इससे भी अर्चा या स्तुति की जाती है। अर्क अन्न की संज्ञा है, क्योंकि प्राणी इसका सत्कार करते हैं अथवा यह अन्न प्राणियों की अर्चना करता है। एक वृक्ष की संज्ञा अर्क (अकउआ) है।

पवि:—यह रथनेमि की संज्ञा है। क्षुरपवि भी होती है।

धन्व—यह अन्तरिक्ष (और आकाश एवं मरुस्थल) की संज्ञा है।

सिना:—यह अन्न की संज्ञा है, सिनम् भी अन्न कहा जाता है।

शिपिविष्ट:—यह विष्णु का पर्याय है। नैरुक्ताचार्य विष्णु का अर्थ सूर्य करते हैं, परन्तु ऐतिहासिक विष्णु उनको अज्ञात नहीं था। यास्काचार्य को विष्णु का शिपिविष्ट नाम अत्यन्त प्रिय था, अत: महाभारत में वासुदेव कृष्ण के मुख से कथन है—यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।

शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम्।
स्तुत्वा मां शिपिविष्ट इति यास्क ऋषिरुदारधी।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥

(शान्ति० 342।72-73)

यद्यपि यास्कीयनिरुक्त में यास्क द्वारा सम्पादित यज्ञों एवं शिपिविष्ट का कोई विशेष विवरण नहीं है और न यह वांछनीय ही था, अतः महाभारत के प्रमाण को परे नहीं फेंका जा सकता, इसका महत्व है। यास्क ने शिपिविष्ट सम्बन्धी एक ऋक् उद्धृत की है—

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टोऽस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूप: समिथे बभूव॥
(ऋ० 7।100।6)

इस ऋचा को सूर्यपरक माना जाय, फिर भी इसमें विष्णु के दो ऐतिहासिक रूपों की स्पष्ट झलक (सङ्केत) प्रकट है। बलि से भिक्षा माँगते समय वामन विष्णु भिक्षु (कौपीनधारी-नग्नप्रायः) थे और देवासुर संग्रामों में उनका कवचादियुक्त दूसरा रूप था। निरुक्त में इस मन्त्र का जो व्याख्यान लिखा है, उसका सार यहाँ लिखा जाता है। आचार्य औपमन्यव के मत में शिपिविष्ट कुत्सितार्थीय (निन्द्य) नाम है। शेप का अर्थ शिश्न भी होता है, 'शुनःशेप' पद में भी यही निन्दित भाव समाविष्ट प्रतीत होता है। औपमन्यव के मत में अप्रतिपन्नरश्मि सूर्य शेप (शिश्न) के समान नंगा होता है। परन्तु यास्क ने इस मन्त्र में शिपिविष्ट का प्रशंसात्मक अर्थ किया है। शेप का अर्थ सुन्दर रूप भी होता था, अंग्रेजी में यह शब्द इसी अर्थ (Shape) में अभी तक मिलता है। यास्क ने उपर्युक्त ऋचा का अर्थ किया है—'हे विष्णो! आपका विख्यात सुरूप प्रसिद्ध है। और आप जो कहते हैं कि मैं 'शिपिविष्ट' (रूपाविष्ट) या निर्वेष्टित (वामन भिक्षुरूप में नग्न मनुष्य अथवा विरश्मि= अप्रतिपन्न रश्मि सूर्य) हूं। इस (वंदनीय) रूप को आप हमसे मत छिपाओ। क्योंकि युद्धभूमि के भी आप अन्यरूप धारण करते हो।" वेद में विष्णु का शिपिविष्ट नाम प्रशंसनीय ही था, इसकी पुष्टि में यास्क ने एक द्वितीय ऋचा उद्धृत की है—

प्रतत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
(ऋ० 7।100।5)

आघृणिः—आहृतदीप्ति या आगतक्रोध ही आघृणि है।

पृथुज्रयाः—पृथुजवः (महान्वेग) को कहा गया है।

अध्वर्यु म्—यह गमनशील अर्थ में है।

काणुका—इसका अर्थ किया है प्रिय या संस्कृत (सुन्दर) सोमपात्र। सोम को तीस ग्रहों (प्यालों) में इन्द्र ने पीया। इन ग्रहों को मन्त्र में सरांसि (सरणशील) कहा है।

अध्रिगु:—यह मन्त्र, अग्नि, इन्द्र एवं अवर ऋत्विक् की संज्ञा है।

आङ्गूष—यह उच्चस्वर में पठनीय स्तोम का नाम है।

उर्वशी—उरु (बहुत) अश्नुते (व्यापती या खाती) है यह उर्वशी विद्युत् का नाम है।

अप्सरा—इसको अप्सरा कहते हैं, क्योंकि विद्युत् आप (अप्-जल) में सरति (चलती) है अतः वह अप्सरा है, इतिहास में गन्धर्वों की स्त्रियां पार्थिव जल में चलती थीं अतः उर्वशी आदि ऐतिहासिक अप्सरायें भी हो चुकी हैं। अप्स रूप का नाम भी है, क्योंकि विद्युत् या अप्सरा रूपवती (दर्शनीय) होती हैं। अभक्ष्य को भी अप्स कहा गया है। यास्क ने ऐतिहासिक उर्वशी और मित्रावरुण का उल्लेख किया है और उसकी पुष्टि में ऋग्वेद (7।33।1) मन्त्र भी उद्धृत किया है।

वाजस्पत्यम् और वाजगन्ध्यम्—वाज अन्न या बल को कहते हैं। अन्न या बल को प्राप्त करता है वही सोम वाजस्पत्य या वाजगन्ध्य है।

याणान्त पद प्रयोग—मन्त्रों में कौरयाणः, तौरयाणः, अह्रयाणः, हरयाणः आदि पद मिलते हैं, जिनका यास्काचार्य ने क्रमशः कृतयान, तूर्णयान, अह्रीत-यानः और हरमाणयानः अर्थ किया है। कृतयानः=तैयार यान, तूर्णयानः=शीघ्रगामीयान (रथादि), अह्रयाणः=शिथिलयान और हरयाणः=हरण-शीलयान।

निष्षपी—√सप (या शेप) स्पर्श से निष्षपी पद बना है, जिसका अर्थ है स्त्रीकाम (कामुक) पुरुष।

---

1. औपमन्यव आदि को 'शेप' (लिङ्ग) शब्द के कारण 'शिपिविष्ट' नाम निन्दार्थक प्रतीत हुआ होगा, जो स्पष्ट ही भ्रम है। शेप का अर्थ रूप या सुरूप ही था। अंग्रेजी (Shape) का भी यही भाव है।

तूर्णाशम्—जो तूर्ण (शीघ्र) सब ओर व्याप्त (फैल) जाता है वह जल ही तूर्णाशम् है।

निचुम्पुण:—√चम (भक्षणे) से निचुम्पुण का अर्थ सोम, समुद्र और अवभृथ (स्नान) किया गया है।

वृक:—वेद में इस पद के जो अर्थ हैं उनका निर्वचन यास्काचार्य ने इस प्रकार किया है—'वृकश्चन्द्रमा भवति। विवृतज्योतिष्को वा। विकृतज्योतिष्को वा।' 'वृक चन्द्रमा का अभिधान है, वह विवृत (प्रसृत) विकृत या विक्रान्त ज्योति वाला है। इस अर्थ की पुष्टि में आचार्य ने यह मन्त्र उद्धृत किया है—'अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श ह। (ऋ० 1।105।18) आदित्य भी वृक कहा जाता है।

भेड़िया और कुत्ता भी वृक कहे जाते हैं। क्योंकि विकर्त्तन (फाड़ने या काटने) से 'वृक' शब्द बना है। गीदड़ या श्रृगाल को भी वृक कहते हैं। वृक का ही विकृत (अपभ्रंश) अंग्रेजी का वाल्फ (Wolf) शब्द है।

जोषवाकम्—तूष्णीम् या चुप रहने को जोषवाकम् कहते हैं।

कृत्तिः—कृन्तति से कृत्ति=चर्ममय वस्त्र अर्थ में प्रयुक्त है, रुद्र को कृत्ति-वासाः कहते हैं।

श्वघ्नी—यह कितव (जुआरी) की संज्ञा है।

नभन्तामन्यके समे—इसका अर्थ है=न भवन्तामन्ये सर्वे=सब अन्य नहीं हों (शत्रु हमारे)।

कुटस्य—यह कृतस्य (किये हुये) का वैदिकरूप है।

चर्षणिः—√चर (चलने) या √चायृ (दर्शने) से बना है, जिसका अर्थ है मनुष्य, पशु (पश्यकः=देखने वाला) या आदित्य है, क्योंकि आदित्य भी चलता है और देखता है।

शम्बः—यह वज्र की संज्ञा है। शम्ब से ही शम्बर बना है।

केपयः—पाप या कुत्सित करने वाला केपयः है। इसी से कपि शब्द भी बना है। कपि शब्द के सूर्य बन्दर आदि अनेक अर्थ हैं।

वीरिटे—आचार्य तैटीकि मत में वीरिटे का अर्थ है अन्तरिक्ष। वी=वयति से और रिट=ईरति (उड़ने) से बना है, क्योंकि आकाश या अन्तरिक्ष में वयः (पक्षी) उड़ते हैं।

आशुशुक्षणि:—आशु=शीघ्र और शु का अर्थ भी शीघ्र है। अथवा √शुच् जलाने के अर्थ में। क्षणोति का अर्थ है जलाने से नाश करता है वनादि का। अतः यह अग्नि की संज्ञा है।

काशि:-इसका अर्थ है मुष्टि। मन्त्र है—'मघवन् काशिरित्ते' (ऋ० 3।30।5)

कुणारुम्—क्वणन (ध्वनि) करने वाले मेघ को कुणारु कहा है।

अलातृणः—अलम्=समर्थ है आतृणः=तोड़ने या काटने में। यह भी मेघ की संज्ञा है।

सलूलकम्—यह संलुब्ध (लोभी) का नाम है।

तपुषिः—सन्तापक अर्थ में है।

हेतिः—यह √हन् (हन्तेः) से निष्पन्न है। इसी से 'हथियार' पद बना है। हेति का अर्थ मारने वाला राक्षसादि भी होता है।

कत्पयम्—कत् या कं सुख का नाम है, अतः इसका अर्थ हुआ सुखकारक पयः (जल)।

विस्रुहः—विस्रवणात्=विविध प्रकार से बहने से यह जलों की संज्ञा है।

नक्षद्दाभम्—√नक्षत् का अर्थ है समीप पहुंचना, दाभम् दम्नोति (मारणे) से अतः नक्षद्दाभम् का अर्थ हुआ निकट पहुँचकर मारने वाले (मेघ) को।

ततुरिम्—त्वरित गति वाला मेघ।

अस्कृधोयुः—कृधु का अर्थ है छोटा ओयुः=आयुः का रूप है। अतः अस्कृधोयुः का अर्थ हुआ=अल्पायु नहीं।

बृबदुक्थः—बृहत्+उकथः=महान् स्तोत्रवाला इन्द्र।

ऋदूदरः—ऋदूदरः, मृदूदरः सोम का विशेषण है।

पुलुकामः—पुरुकामः (बहुत कामनाओं वाला मनुष्य)।

आऋजीकः—ऋजु से ऋजीक (सीधी) प्रभा।

असिन्वती—असम् खादन्वी=अच्छी प्रकार न खाती हुई ।

रुजानाः—तटभूमि को तोड़-फोड़ (रुजन्ति) करने से यह नदियों की संज्ञा है।

जूर्णिः—जवति, जरति या द्रवति से जूर्णि=शीघ्र बहने से। यह शक्ति (हथियार) या सेना का विशेषण है।

ओमना—√अव से रक्षार्थ में 'ओमना' प्रयोग है।

द्यंसम्—यह दिन का पर्याय है।

उपसि—निकट अर्थ में।

प्रकलवित्—कला और प्रकला का वेत्ता वणिक्।

क्षीणस्य—√क्षि निवास अर्थ में भी है। जिससे क्षय एवं क्षोण पद बने हैं जिनका अर्थ है घर।

पाथः—अन्तरिक्ष का पर्याय है।

सबीमनि—आज्ञा या अनुशासन अर्थ में।

विदथः—यज्ञ, विद्या, विज्ञान या सभा अर्थ में।

मूरा अमूराः—मूढ़ और अमूढ़ का रूप।

अमवान्—अम=अमात्य (मन्त्री) युक्त राजा ही अमवान्।

पाजः—पालन अर्थ में या बल अर्थ में।

श्रुष्टी—शीघ्र अर्थ में।

पुरन्ध्रिः—बहु (पुरु) बुद्धि (धीः) वाला=भग, इन्द्र, या वरुण अथवा पुरों का दारयिता=पुरन्दर (इन्द्र)।

रिशादसः—हिंसकों को मारने वाले देवगण रिशादसः कहे जाते हैं। √रिश और √दसु दोनों ही हिंसार्थक हैं।

सुदत्रः—श्रेष्ठ दाता।

सुविदत्रः—श्रेष्ठ विद्वान्।

गिर्वणाः—गीर्भिः=वचनों से वनयन्ति=स्तुति करते हैं जिनकी वे देव गिर्वणाः कहे जाते हैं।

अमूर्तें सूर्तें—सुसमीरिता=प्रेरित किये हुये ही अमूर्तें सूर्तें हैं।

अभ्यक्—अ+मा+क्तः=न प्राप्त हो मुझे (इस अर्थ में)।

यादृश्मिन्—यादृश (जैसा) का रूप।

जारयायि—उत्पन्न हुआ अर्थ में प्रयुक्त है।

क्षुरुधः—क्षुध् (गर्मी) को रुधः (रोकनेवाली) आपः (जल)।

अमिनः—अमितः।

जज्झती:—यह ऐसा शब्द करने के कारण आपः की संज्ञा है।

अप्रतिष्कुतः—विपरीत या उल्टा (विमुख न किया हुआ)।

तुञ्जः—दानार्थक धातु।

बर्हः—आक्रमण।

उराणः—विस्तृत होता हुआ।

शिशयालाम्—जमने से हिम या आपः की संज्ञा।

जबारु—जवमानरोहि, (सूर्य) शीघ्र ऊपर रोहणकर्त्ता।

जरूथम्—गरूथम् गृणाति से—स्तुति या स्तोत्र अर्थ में।

बर्हणा—वृद्धि।

इलीबिशः—इला=पृथिवी, बिल=दुर्ग=शयस्य (पृथिवी) के बिल या दुर्ग में सोने वाला बल या वृत्र (असुर)। कुरान में इलीबिश का रूप इबलीश मिलता है जो दुष्ट है।

किमिदिनः—अनेकविध प्राप्त।

उक्षा—√उक्ष सेचने अर्थ में है उससे उक्षन् या उक्षा वृषभ वर्षण या सेचन अर्थ में। नैरुक्तिक अर्थ इसका है सेक्ता। अतः उक्षा सूर्य, सोम, मरुत्, अश्व या बैल किसी अर्थ में हो सकता है। उक्षा समुद्र या अन्तरिक्ष को भी कहा जाता है—उक्षा समुद्रो अरुषः······(ऋ० 5।47।3)। निम्न मन्त्र में उक्षा सोम का वाचक है—

उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः। (ऋ० 1।164।43)

आचार्य शौनक ने इस सम्बन्ध में लिखा है—सोम उक्षा बृहद्दे 4।41) उक्षा शक्ति, सोम (बल) या ईश्वर का वाचक भी है।

'उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति' (ऋ० 10।31।8)।

तुरीपम्—तूर्ण व्यापने से उदक की संज्ञा।

रास्पिनः—रपति या रसति (शब्द करने या बहने से) यह भी उदकों की संज्ञा है।

प्रतद्वसू—प्राप्तवसू (धनप्राप्त) या ऐश्वर्यवान्।

श्रुष्टीवरीः—सुखकारक आपः।

ऋचीषमः—ऋचा या स्तुति के समान।

अनर्शरातिम्—अनर्श=अनश्लील अपापयुक्त रातिम्=दान।

अनर्वा—अपराश्रित=स्वयंसमर्थ।

गल्दा—यास्क ने यहाँ गल्दा का अर्थ प्रवाह (गालनम्) किया है। निघण्टु में भाषा के पर्यायों में यह शब्द है, इस गल्दा का रूप ही अँग्रेजी में लेंग्वेज (Language) है।

भूर्णिः—भ्रमणशील पशु।

बकुरः—भाः+करः=भास्करः, भासमान या भयंकर। ज्योति, सूर्य या उदक अर्थ में यह बकुर शब्द है।

बेकनाटान्—वृद्धि (ब्याज) खाने वाले (वार्धुषिक) पणि (वणिक्)

अंहुरः—अंहस्वान्=अहंकारी या अंहस्=पाप वाला।

वातापयम्—वात (वायु) से प्रापणीय या वर्धनशील उदक।

लिबुजा—व्रततिः=बेल (लता)।

किविर्दती—दाँतों से काटने वाली अथवा कटे दाँतों वाला (भगः) कहलाती इसी का रूप है, भग या पूषा अदन्तक हैं।

बुन्दः—बाण की संज्ञा। इसी के रूप वृन्द और वृन्दारक हैं।

अध्याय—अष्टम

दैवतविज्ञान

यास्काचार्य ने निरुक्तशास्त्र के उत्तरषट्क (अध्याय 7 से 12 तक) में दैवतविज्ञान या वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है, इससे वेद में दैवतविज्ञान का महत्व समझा जा सकता है। वेद का यज्ञविद्या से भी घनिष्ट सम्बन्ध है, अतः देवता और यज्ञ वेद के प्रधान विषय हैं, अतः दैवतविज्ञान पर विचार करने से पूर्व अतिसंक्षेप में श्रौती यज्ञविद्या का स्पष्टीकरण करते हैं।

यज्ञ और त्रयीविद्या—न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है कि यज्ञ ही मन्त्रों और ब्राह्मणग्रन्थों का प्रधानविषय है।[1] वैदिक यज्ञविज्ञान को ही त्रयीविद्या कहते हैं। शतपथब्राह्मण में सूर्यमण्डल को ही त्रयीविद्या कहा है जो तपती है—

'सैषा त्रय्येव विद्या तपति',

सूर्य का मण्डल ही ऋग्वेद है, उसकी अर्चि (किरण) सामलोक है और उसमें अग्नि ही यजुर्वेद है—'यदेतन्मण्डलं तपति······स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तानि सामानि स साम्नां लोकः। एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः।[2]

जगत् में सूर्य, अन्तरिक्ष (वायु) और पृथिवी-रूपी त्रिलोकी प्राकृतिक यज्ञ

1. "यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः", (वात्स्यायनभाष्य पृ० 283)।
2. श० ब्रा० (1|3|5|2)

सतत चल रहा है। इस प्राकृतिक यज्ञ (उत्पादन और वितरण प्रणाली) के आधार पर मानवीययज्ञों की कल्पना की गई, जैसा कि मनु ने सङ्केत किया है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुसामलक्षणम्॥[1]

अतः वेदों में त्रिस्थानीय (पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक स्थित) देवों की स्तुति है और उनके निमित्त यज्ञों का विधान है। अग्नि ही ऋग्वेद है, वायु (अन्तरिक्ष) ही यजुर्वेद है और सूर्यलोक ही सामवेद है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—सभी मूर्तिमान् पदार्थ ऋग्वेद (अग्नि) से उत्पन्न होते हैं। सब गतियाँ यजुः (वायु) से उत्पन्न होती हैं और सर्वतेज सामरूप (सूर्यरूप) हैं—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः। सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं हि शश्वत्। सर्वं हृदि ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥[2]

यज्ञ के वैज्ञानिक स्वरूप का कुछ आभास निम्न उद्धरणों से होगा—
'अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः" (शतपथब्राह्मण)

'अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, धूम से अभ्र (मेघ) और मेघ से वृष्टि होती है। मनुस्मृति और गीता में इसको और अधिक स्पष्ट किया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (म० स्मृ०)

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (गी० 3।9।15)

अतः वेद से यज्ञकर्म उत्पन्न हुआ। यज्ञ से प्रजा का पालन (वृष्टि, अन्नादि

---

1. म० स्मृ (2)
2. तै० ब्रा० (1।12)।

क्रम से) होता है।[1]

यज्ञ और मन्त्र में देवताओं का क्या स्वरूप है, अब यह प्रतिपादित किया जाता है।

देव-पदनिर्वचन—आचार्य यास्क ने 'देव' पद का निर्वचन इस प्रकार किया है—'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा", (निरुक्त 7।15)—"दान देने के कारण, दीप्त होने से, चमकने से या द्युलोक में स्थित होने से (दिव्य पदार्थ) देव कहलाते हैं। यह देवशब्द √दिव् धातु से अच् प्रत्यय लगाकर बना है। √दिव् के अनेक अर्थ हैं, परन्तु देव शब्द में द्युति, स्तुति, कान्ति और गति ये चार भाव ही माने जाने चाहिये। सूर्य, अग्नि, पर्जन्य आदि देवों के स्वरूप से यह समझना चाहिये कि इनमें दीप्ति, प्रकाश, चमक एवं गति है, अतः वे देव हैं। दिव्य और अदिव्य (यथा नदी, अश्व आदि) पदार्थ भी मन्त्रों में देव कहलाये जिनकी स्तुति की गई। अतः स्तुति का देव से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। ऋग्वेद या ऋचा का अर्थ ही स्तुति है, ब्रह्म का अर्थ भी स्तुति या काव्य है, अतः वेद मुख्यतः स्तुतियों के संग्रह हैं, ये स्तुतियाँ अनेक दिव्य और अदिव्य पदार्थों की की गई हैं, वे स्तुत पदार्थ देव कहलाते हैं।

मन्त्र में देवता का ज्ञान—वेदमन्त्रों में देवता की पहिचान के लिये अनेक शास्त्रों की रचना की, इनमें ऋग्वेद के मन्त्रों की पहिचान के लिये शौनक ने बृहद्देवताग्रन्थ की रचना की। अतः मन्त्रों में देवता का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इस दृष्टि से मन्त्रों के दो विभाग स्पष्ट हैं जैसा कि यास्क ने निर्देश किया है, प्रथम, 'आदिष्टदेवतलिङ्गमन्त्र', जिन मन्त्रों में किसी देवता का स्पष्ट नाम निर्दिष्ट है। द्वितीय, 'अनादिष्टदेवतलिङ्गमन्त्र' हैं जिन मन्त्रों में देवता का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। प्रथम प्रकार के मन्त्रों के ज्ञान की विधि यास्काचार्य ने इस प्रकार कही है—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्य-

---

1. यज्ञ द्वारा देवसृष्टि होती है और वे देवता (पर्जन्य-वर्षा) उत्पन्न होकर संसार का पालन करते हैं, यही तथ्य गीता में कहा गया है—
   देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।"

मिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति (नि० 7।1)। "ऋषि, कामना करता हुआ, जिस देवता से अभीष्ट आर्थपत्यम् (वस्तु) चाहता है, उसी की स्तुति करता है और वह मन्त्र उसी देवता (तद्दैवतः) का होता है।

मन्त्र में देवता की पहिचान सभी वेदाचार्यों को अभीष्ट है, जैसाकि शौनकाचार्य ने कहा है—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमधिगच्छति ॥[1]

"प्रत्येक मन्त्र में देवता की पहिचान प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये। दैवतज्ञ ही मन्त्रों के यथार्थभाव को समझ सकता है।"

शौनक ने यास्क के उपर्युक्त 'यत्काम ऋषिः' वाक्य का अनुवाद इस प्रकार किया है—

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तदैव एव सः ॥[2]

'जिस पदार्थ की कामना करता हुआ ऋषि जिस देव की भक्तिपूर्वक प्रधानता से स्तुति करता हुआ कहता है कि 'यह हो', वह मन्त्र उसी देवता का होता है।

अनादिष्टलिङ्गमन्त्रों में देवता को कर्म (यज्ञ) द्वारा समझना चाहिये, और मन्त्र और कर्म से अज्ञात मन्त्र का देवता प्रजापति होता है—मन्त्रेषु ह्यनिरुक्तेषु देवतां कर्मतो वदेत्। मन्त्रतः कर्मतश्चैव प्रजापतिरसम्भवे ॥[3]

ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं-कहीं यज्ञ का प्रधान देवता विष्णु को कहा है, कहीं इन्द्र या अग्नि को। 'यथा यज्ञो वै विष्णुः' यह वाक्य ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा मिलता है। ऐतरेयब्राह्मण में अग्नि को ही सर्वदेवता कहा है—'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (ऐ० ब्रा० 1।1), पुनः कहा है—"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः' (ऐ० ब्रा० 1।1) "अग्नि देवों में कनिष्ठ और विष्णु परमदेव है।" यहाँ पार्थिव अग्नि से तात्पर्य है और विश्वव्यापी अग्नि या सूर्य का नाम विष्णु है। सभी

1. बृहद्देवता (1।2); 2. बृहद्देवता (1।6); 3. बृहद्देवता (7।16)

देवता एक ही शक्ति (अग्नि=परमात्मा) के रूप हैं इसकी पुष्टि स्वयं ऋग्वेद के इस मन्त्र से होती है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ० 1।164।46) ।

'एक ही देवता को ऋषिगण बहुत नामों से कहते हैं—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य गरुत्मान् सुपर्ण। इसी अग्नि को मातरिश्वा (वायु) और यम कहते हैं।"

अग्नि का ही प्राचीनतम नाम 'इन्द्र' था। देवासुरों से पूर्व, जब ऐतिहासिक देवराज इन्द्र का जन्म भी नहीं हुआ था, कश्यप; भृगु, अङ्गिरा आदि ने अग्नि की स्तुति 'इन्द्र' नाम से की थी, अतः अग्नि की ही वृत्रहा और पुरन्दर संज्ञा थी, इसकी पुष्टि निम्न मन्त्र से होती है—

त्वामग्ने पुष्करादधर्वा निरमन्थत······
वृत्रहणं पुरन्दरम्', (ऋग्वेद) ।

द्रविणोदाः अग्नि को इन्द्र कहा जाता था। इन्द्र अग्नि की संज्ञा थी इसकी पुष्टि में अन्य अनेक मन्त्र दिये जा सकते हैं। इन्धे (जलना) या इन्दते (चमकना) आदि से यास्क (नि० 10।8) ने इन्द्रपद का निर्वचन किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि इन्द्रपद अग्नि का ही पर्याय था। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने स्पष्ट ही लिखा है—'वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेन इन्द्राख्येन ', (नि० 2।16), "वायु से आवेष्टित इन्द्र संज्ञक वैद्युताग्नि द्वारा।" अतः वायुवेष्टित विद्युत् या अग्नि का नाम ही इन्द्र था। अतः अग्नि ही वेद का प्रधान देव है—सूर्य भी दिव्याग्नि है अतः शौनकमत में—

भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थावरस्य च। अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवंप्रलयं
विदुः (बृहद्० 1-61)

यज्ञ या यज्ञाङ्ग जिस देवता वाला होता है, उसमें प्रयुक्त मन्त्र भी उसी देवता वाला होता है। यज्ञ में अप्रयुक्त मन्त्रों का देवता प्रजापति होता है

नैरुक्तों के मत में उनका नाराशंस देवता है। अथवा यथेच्छ देवता की कल्पना करे।

अत्यन्त ऐश्वर्यवान् (महाभाष्य) होने से देवता की एक आत्मा बहुत प्रकार से स्तुत की जाती है, जैसे अग्नि की जातवेदाः द्रविणोदा, वैश्वानर, वनस्पति आदि नामों से स्तुति। अथवा यों समझना चाहिये कि एक ही शक्ति की वेद में अनेक नामों से स्तुति की गई है।

देवताओं की संख्या— निरुक्तशास्त्र में त्रिलोकी के तीन ही प्रमुख देवता माने गये हैं यथा पृथिवीलोक का अग्नि, अन्तरिक्षलोक का वायु (या इन्द्र) और द्युलोक का सूर्य या आदित्य। ऋग्वेद में प्रत्येक लोक के ग्यारह-ग्यारह देवता कथित हैं—

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥
(ऋ० 1।139।11)

ऋग्वेद (3।9।9) में देवों की संख्या 3339 और शतपथब्राह्मण (11।6।1।4) में 3333 देवों का उल्लेख है। वेदों और पुराणों में देवों की प्रसिद्ध संख्या 33 ही है, वे इस प्रकार हैं—

'अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादश आदित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।'' (बृ० उप० 3।9।2) आठ वसु हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र।

एकादशरुद्र वायुओं के प्रकार हैं और द्वादश आदित्य द्वादश मासों के रूप हैं। आदित्य सब कुछ आदान (ग्रहण) करते हैं अतः आदित्य कहलाते हैं।

विद्युत्ध्वनि (स्तनयित्नु) ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है—'स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति', (श० ब्रा० 11।6।3।9), वायु, विद्युत् या अग्नि ही इन्द्र है और यज्ञ = (अग्नि) ही प्रजापति है। वेदों में यद्यपि ऐतिहासिक देवराज इन्द्रादि का आदित्यों का पूर्ण साम्य नहीं है, परन्तु आख्यानसमय या इतिहास की छाया वेदमन्त्रों में सर्वत्र है, इसको अस्वीकार करना सत्य से आँख मूँदना है। यद्यपि शतपथ में स्पष्टतः कहा है—

तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद् दासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुयत इतिहासे त्विति ।" (इन्द्र-वृत्र आदि का युद्ध) मन्त्रों में वह नहीं है जो इतिहास में है। परन्तु मन्त्रों के आधार पर ब्राह्मणग्रंथों में इन्द्रसम्बन्धी अनेक उपाख्यान यथा शर्यातोपाख्यान, पुरूरवा उर्वशी उपाख्यान एवं स्वयं वृत्रवध सम्बन्धी आख्यान मिलते हैं। यास्क ने स्वयं इसीलिये लिखा कि मन्त्रों में इतिहास, स्तुति और गाथा मिश्रित हैं।[1] ऐतिहासिक देवासुरयुद्धों से निश्चय ही प्राकृतिक या दिव्य युद्धों की उपमा दी गई है—'तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादश्च।' (नि० 2।16)। आख्यानयुक्त (इतिहास) कथन से ऋषि को प्रीति होती है।[2] अतः वेदमन्त्रों का कोई कैसा भी अर्थ करले, इतिहासमिश्रण को उनसे पृथक् नहीं किया जा सकता। शौनक, यास्क और इनसे पूर्व के सभी वेदाचार्य मन्त्रों के इतिहासवर्णन मानते थे।

तीन ही प्रमुख देवता—त्रयीविद्या के प्रसङ्ग में लिखा जा चुका है कि मन्त्रों का प्रमुख देवता अग्नि है और उसके तीन रूप—अग्नि, वायु और सूर्य ही तीन प्रमुख देवता हैं, यास्क ने लिखा है—'तिस्र एव देवताः। अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।"[3] शौनक ने इसी का अनुवाद किया है—

> अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव वा।
> सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवताः ॥[4]

इसी अग्नि को पृथिवी में वास करने से वसु कहा गया है वायु (इन्द्र= विद्युत्) अन्तरिक्ष देव हैं और द्युलोक का प्रधान देव सूर्य है, जो कि सब लोकों की आत्मा और केन्द्र है—"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च", (ऋग्वेद) वेद में इन्द्र और वृत्र का जो वर्णन है वह सर्वत्र ऐतिहासिक नहीं है प्रायः वह मेघ और विद्युत् का रूप है। स्वयं ऋषि वेद में कहता है—"न त्वं युयुत्से कतमच्चन नाहन् तेऽमित्रो मघवन्कश्चनास्ति। मायेत्सा ते युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रून्नु पुरायुयुत्से।" (ऋग्वेद)।

---

1. तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति' (नि० 4।6)
2. ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता", (नि० 10।10)
3. निरुक्त (7।5), 4. बृहद्देवता (1।69),

देवाकारचिन्तन—यास्क ने निरुक्त में चार प्रकार के देव माने हैं—(1) पुरुषसदृश (2) अपुरुषसदृश (3) उभयविध और (4) कर्मात्मा।

प्रथम श्रेणी में देवता पुरुषविध या पुरुषसदृश हैं, उनको सचेतन माना जाता है (चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति), यथा वेदमन्त्रों में इन्द्र की अधिकांश स्तुतियाँ पुरुष मानकर की गई हैं, उनके प्रमुख प्रसंगों का उल्लेख है—

(1) ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू (ऋ० 6।47।8)।
'हे इन्द्र ! तुम्हारे स्थविर (विद्वान् या दृढ) की विशाल भुजायें हैं।'

(2) आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि (ऋ० 2।18।4)
"दोनों अश्वों के साथ हे इन्द्र ! आओ।"

3. 'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य' (ऋ० 10।116।7)
"हे इन्द्र अपनी ओर बहने वाले सोम को पियो।"

4. आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् (ऋ० 1।10।9)
"विशाल कानों वाले इन्द्र हमारे आह्वान को सुनो।"

इनके नाम भी पुरुषसदृश हैं, यथा इन्द्र, वरुण, अर्यमा, विष्णु इत्यादि। इसी प्रकार अदिति, सिनीवाली आदि नाम पुरुषविध ही हैं।

द्वितीय प्रकार के देवता अपुरुषविध होते हैं ये प्राकृतिक शक्तियाँ हैं—यथा अग्नि, वायु, आदित्य, द्यावापृथिवी, चन्द्रमा आदि। इसी प्रकार ग्रावा, सोम, नदी, उलूखलमूसल इत्यादि की तथा उपर्युक्त अग्नि आदि की भी चेतनावत् स्तुति होती हैं। यथा—(1) 'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' (ऋ० 10।75।9) 'सिन्धु (नदी) ने सुखमय अश्वयुक्त रथ जोता।"

(2) अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः (ऋ० 10।94।8)
'ग्राव (पत्थर) हरितमुखों से क्रन्दन करते हैं।'

अथवा देवता पुरुषविध और अपुरुषविध दोनों प्रकार के हो सकते हैं जैसे हिमालय या अग्नि। इतिहासपुराणों से भी इनके दोनों रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार अग्नि, समुद्र सोम, सप्तर्षि इत्यादि के दोनों रूप सिद्ध है। वस्तुतः इन नामों ऐतिहासिक देव भी हुये हैं यथा अदिति के द्वादश पुत्र (आदित्य), एवं अग्नि ही अङ्गिरा (ऋषि) का नाम था।

अपुरुषविध देवता प्राचीन मान्यता के अनुसार कर्मात्मा (पुरुषविध) या कर्मानुसार अङ्ग बना लेते हैं जैसे रामायण में अग्नि का पुरुषरूप।

पृथिवीस्थानदेवगण

पृथिवीस्थान देवताओं में अग्नि प्रमुख है। इसके अतिरिक्त पृथिवी स्थानीय देवों के अन्य अनेक वर्ग हैं। यथा प्रथम आप्रीवर्ग में ये द्वादश देवता स्तुत किये गये हैं—(1) इध्म: (2) तनूनपात् (3) नराशंस (यज्ञ या अग्नि), इल: (5) बर्हि: (6) द्वार: (7) उषासानक्ता (8) दैव्या होतारा (9) तीन देवियाँ (तिस्रो देव्य: भारती, इला और सरस्वती) (10) त्वष्टा (11) वनस्पति: (यूप:) (12) स्वाहाकृतय: (हवियाँ)। इन द्वादश आप्री देवताओं का सम्बन्ध यज्ञ से है। इन द्वादश देवताओं के दिव्य और अदिव्य (पार्थिव) दोनों रूप हैं, इनका विवेचन आगे किया जायेगा।

पृथिवीस्थ सत्त्वों का द्वितीय वर्ग भी देवता माना गया है, ये भी पार्थिव पदार्थ (जीवादि) हैं-- (1) अश्व: (2) शकुनि: (3) मण्डूक: (4) अक्षा: (द्यूतपाश) (5) ग्रावाण: (सोमप्रस्तर) (6) नाराशंस: (7), रथ: (8), दुन्दुभि: (9) इषुधि: (तरकस), (10) हस्तघ्न, (11) अभीशव: (12) धनु: (13) ज्या (14) इषु: (15) अश्वाजनी (16) उलूखलम् (17) वृषभ: (18) द्रुघण: (19) पितु: (20) नद्य: (विसप्तक)=21 नदियाँ, (21) आप: (22) ओषधय: (23) रात्रि: (24) अरण्यानी (25) श्रद्धा (26) पृथिवी (27) अप्वा (28) अग्नायी (29) उलूखलमुसले (30) हविर्धाने (31) द्यावा-पृथिवी (32) विपाट्छुतुद्र्यौ (33) आर्त्नी (34) शुनासीरौ (35) देवी जोष्ट्री (36) देवी ऊर्जाहुती।

अग्नि:—पृथिवीस्थान अग्नि ही वेद का प्रमुख देवता है, अन्तरिक्ष में विद्युत्‌रूप में इन्द्र और द्युलोक में आदित्यरूप में ज्वाजल्यमान सूर्य है। वेद में 'अग्नि' या इसके प्राचीनतर नाम 'इन्द्र' की इस प्रचुरता से स्तुति है और इसकी इतनी महिमा गाई गई है जितनी ईश्वर की गाई जा सकती है, स्वामी दयानन्द सरस्वती तो इन्द्र, अग्नि आदि को ईश्वर के पर्याय ही मानते थे, इस मत की पुष्टि 'इन्द्रं मित्रं' मन्त्र तथा अन्य मन्त्रों से की जा सकती है।

वेदमंत्रों में अग्नि के अनेक प्रधान नाम हैं, यथा, अग्नि, जातवेदा:, वैश्वानर: द्रविणोदा: इत्यादि ।

ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही अग्नि का स्तवन है—

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । रत्नधातमम् ।' (1-1-1)

अग्नि के इतने विशेषण इस मंत्र में हैं—अग्नि (अग्रणी-नेता) पुरोहित, देव, ऋत्विज् ऋतुयाजी यासत्योत्पादक) होता और रत्नधाता (या रत्नदाता) ।

अग्नि के पाँच निर्वचन यास्काचार्य ने किये हैं—

(1) **अग्रणीर्भवति**—अग्रणी: शब्द का ही एक रूप अग्नि है जो आगे ले जाता है—या अन्धकार में मार्ग दिखाता है, वह अग्रणी यानी आगे ले जाने वाला है यही अर्थ पुरोहित शब्द का है ।

(2) **अग्र यज्ञेषु प्रणीयते**—यज्ञ में सर्वप्रथम (आगे) लाया या जलाया जाता है—अत: उसकी अग्नि संज्ञा हुई । शौनक ने और स्पष्ट किया है—

जातो यदग्रे भूतानामग्रणीरध्वरे च यत् । (बृहद्० 2-24)

'जो तत्वों में सर्वप्रथम या यज्ञ में सबसे आगे रहता है ।'

(3) **अंगं नयति सन्नममान:**—झुकता (नमन) हुआ अन्य वस्तु को अपना अङ्ग (अंश) बना लेता है ।

(4) **अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीवि:**—स्थौलाष्ठीवि आचार्य के मत में यह नाम इसलिये है कि यह प्रत्येक वस्तु को गीली से सूखा (न क्नोपयति, न स्नेहयति) बना देता है ।

(5) **त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते**—आचार्य शाकपूणि के मत में 'अग्नि' पद तीन धातुओं से बना है—√इ (या इण्), √अञ्ज और √दह् से जिनका क्रमश: अर्थ है गति, प्रकाश और जलाना तथा चतुर्थ धातु √नी (ले जाने) का भी समावेश किया है, क्योंकि यह हवि: या प्राणियों को देवों तक ले जाता है । तदनुसार एति से अकार, अनक्ति से गकार और दहति या नयति से 'नी' ग्रहण किया गया है ।

पृथिवीस्थान अग्नि: का नाम ही अग्नि है, मध्यस्थानी अग्नि को जातवेदस् वानस्पत्य, पावक, इंद्र या विद्युत् आदि का कहा गया है और द्युलोकस्थ अग्नि के शुचि:, वैश्वानर: भरत:, सूर्य आदि नाम वेद में कथित है।

वर्तमान वेदमंत्रों में इस तथ्य का बहुधा उल्लेख है कि पूर्व (प्राचीन) ऋषियों और नवीन ऋषियों ने अग्नि की स्तुति की थी। प्राचीन ऋषि अङ्गिरा, कश्यप, भृगु, अथर्वा, दक्ष आदि ने इन्द्र नाम से अग्नि की स्तुति की थी। नवीन मंत्रों में 'इन्द्र' का स्थान 'अग्नि' ने ले लिया और इन्द्र का रूप नवीन मंत्रों में कुछ बदल गया। वह विद्युत् या वायु माना जाने लगा।

यास्क ने लिखा है—'स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते।' (नि॰ 7-16)।

'यह नहीं समझना चाहिये कि यह (पार्थिव) अग्नि ही एकमात्र अग्नि है दोनों ऊपर के (मध्यस्थानी और द्युस्थानी) ज्योति भी अग्नि है, यथा निम्न मंत्र में अन्तरिक्षस्थ अग्नि का उल्लेख है जो जातवेदा: कहा गया है—

घृतस्य धारा: समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदा:।

यहाँ घृत पद मेघजल का पर्याय है। (ऋ॰ 4-58-8)

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट् (ऋ॰ 4-58-1)

इस ऋचा में समुद्र (आकाश) से सूर्य (अग्नि) के उठने का वर्णन है। इसी अग्नि के त्रिलोकस्थ अनेक रूप इस मंत्र में कथित हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ॥

इस मंत्र से भी सिद्ध होता है कि इन्द्र अग्नि का ही प्राचीनतर नाम था। उत्तरकाल में इन्द्र वायु या मध्यमस्थानी वैद्युताग्नि माना गया। 'दिव्य सुपर्ण गरुत्मान्' स्पष्ट ही सूर्य का विशेषण है। यह दिव्याग्नि है। इतिहास में कश्यप पुत्र वैनतेय का नाम भी सुपर्ण गरुत्मान् (गरुड़) था। ऋषियों ने इतिहास की छाया को भी ऋचाओं में ग्रहण किया है, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि मानवसम्बन्धी किसी भी बात को इतिहास से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता।

जातवेदस्—जिस प्रकार 'इन्द्र' अग्नि का प्राचीनतर नाम था, उसी प्रकार 'इन्द्र' से प्राचीनतर अग्नि नाम 'जातवेदस्' था। कश्यप ऋषि ने देवराज इन्द्र के जन्म से पूर्व अग्नि की जातवेदस् और इन्द्र नाम से स्तुति की थी। महर्षि कश्यप के पुरातन ऋग्वेद (प्राजापत्यश्रुति) में 1000 सूक्त और 500499 मंत्र थे। इन मंत्रों में प्रमुखतः अग्नि की जातवेदस् के नाम से स्तुति थी, इसकी पुष्टि आचार्य शौनक के बृहद्देवता, वेदभाष्यकार स्कन्द के ऋग्भाष्य, और षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणीवृत्ति से होती है—

जातवेदस्यं सूक्तसहस्रमेकमैन्द्रात्पूर्वं कश्यपस्यार्षं वदन्ति।
जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषाम् एकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः॥
(बृहद्० 3-130)

कश्यप ने एक सहस्र जातवेदस्य सूक्त रचे थे, इंद्र से पूर्व जातवेदस् की स्तुति की गई थी। इनमें जातवेदस्य सूक्त आदिम था और उत्तरोत्तर सूक्त में एक मंत्र बढ़ जाता था, ऐसा शाकपूणि का मत था।

शौनक द्वारा प्राचीन वेदाचार्य शाकपूणि का मत लिखने से स्पष्ट है कि शौनक के समय ही काश्यपीय ऋग्वेद लुप्त था निश्चय ही उस पुरातन लुप्त ऋग्वेद के अनेक मंत्र वर्तमान ऋग्वेद में हैं, इसीलिए ऋषि ने कहा है कि नूतन और पुरातन मंत्रों में ऋषियों अग्नि की स्तुति की थी—

'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।' (ऋ० 1-1-2)

इस तथ्य में कुछ विशेषतायें थीं, अतः ऋषियों ने इसका अनेकश उल्लेख किया है। एक विशेषता अग्नि के नामों की थी, आधुनिक ऋग्वेद में 'अग्नि की प्रधानता है, पुरातन मंत्रों में अग्नि के नाम जातवेदस् और इन्द्र की प्रधानता थी।

जिस प्रकार अग्नि या इन्द्र या आदित्य पद के अनेक अर्थनिर्वचन किये गये हैं उसी प्रकार जातवेदस् के अनेक निर्वचन किये गये हैं—

(1) जातानि वेद—जो उत्पन्न पदार्थों (जीवादि) को जानता है।

(2) जातानि वैनं विदुः—उत्पन्न हुये इसको जानते हैं।

(3) जाते-जाते विद्यते—पुनः पुनः पैदा होता हुआ वर्तमान रहता है।

(4) जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः— उत्पन्न हो तो ही ज्ञात हो जाता है, अथवा उत्पन्न होते ही पदार्थों का (प्रकाश से) ज्ञान करता है।

ब्राह्मण प्रवचन है—'यज्जातः पशूनविन्दत।' (मै० सं० 1-8-2)

'जो उत्पन्न होते ही पशु (प्राणियों) को प्राप्त होता है।' यहाँ जातवेदस् में विद्लृ (लाभे) धातु है, क्योंकि उत्पन्न होते ही पशु और मनुष्य आग की ओर सरकते हैं और उसे प्राप्त करते हैं—'तस्मात्तर्वा ऋतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति' (मै० सं० 1-8-2) यही अर्थ निर्वचन शतपथब्राह्मण में

'यत् तत् जातं जातं विन्दते तस्मात् जातवेदाः।'

(श. ब्रा. 9-5-1-68)

उत्पन्न भूतों या प्रजा ने इसे प्राप्त किया, इसलिये यह अग्नि जातवेदाः है। उपर्युक्त प्रकरण में पशु का अर्थ मनुष्य समझना चाहिये, क्योंकि मनुष्य ही आग की ओर जाते हैं अन्य पशु आग देखकर भागते हैं।

वायु की उत्पत्ति (द्रव या ठोस पदार्थ से) अग्निसंयोग के बिना नहीं हो सकती अतः वायु में आग्नेयांश प्रचुरमात्रा में है, इसीलिए वायु को जातवेदाः कहा गया है—'वायुर्वैजातवेदाः' (ऐ०ब्रा० 2-34) वायुवेष्टित वैद्युताग्नि ही इन्द्र या जातवेदस् कहा गया है, जो अन्तरिक्षस्थानी है, आचार्य शौनक ने स्पष्ट किया है—

'तेनैव मध्यभागेन्द्रो जातवेदा इति स्तुतः (बृहद्० 2-31)

'मध्यमस्थानी (अन्तरिक्षस्थ) अग्नि (वायुवेष्टित विद्युत्) ही इन्द्र या जातवेदस् है।

यास्क के मत में सम्पूर्ण दाशतयी (ऋग्वेद) में एक तृच सूक्त (10-188) मंत्र जातवेदस् अग्निपरक हैं, इसका एक मंत्र है।

'प्रनूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्।' (ऋ० 10-188-1)

सूर्य को भी जातवेदा कहा गया है—

'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्।

(ऋ० 1-50-1)

अतः जातवेदस् त्रिलोकस्थ अग्नि ही था।

महाभारतकाल से पूर्व जातवेदस् के सहस्र काश्यप सूक्तथे, इस समय केवल एक तृच (तीन ऋचा वाला) सूक्त ही जातवेदस्य है।

वैश्वानर:— मध्यमस्थानी अग्नि या वायु (मरुद्गण) ही वैश्वानर है अग्नि का सम्बन्ध पृथ्वी से सूर्य तक रहता है। पृथ्वी के जल को वह सूक्ष्मकिरणों (ताप) द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचाता है अतः वैश्वानर का मुख्य सम्बन्ध वर्षा से है। इन्द्र और मरुतों का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य से प्राप्त पार्थिव अग्नि (ताप) से मेघ बनते हैं, इसीलिए कहा है—

'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।' (ऋ० 1-164-51)

'पर्जन्य (मेघ) भूमि को तृप्त करते हैं और पृथिवी के अग्नि द्युलोक को तृप्त करते हैं।' अतः सूर्य भी वैश्वानर कहा जाता है—'दिवि पृष्ठो अरोचत (यजु० 33-92) तथा यह मंत्र सौर्यवैश्वानरीय है—

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधयापप्रथन्त॥
(ऋ० 10-88-1)

'हवि को पान करने वाली अजर सेवनीय या प्रिय आहुति प्रतिदिन स्वर्ग को प्राप्त करने वाले आदित्याग्नि में हुत की है, उसके भरण होने के लिए और धारण के लिये स्वधा (अन्न या शक्ति) से देवों ने 'क' प्रजापति को प्रथित किया।

आदित्य ही वैश्वानराग्नि है इसकी पुष्टि में यह मन्त्र उदाहर्त्तव्य है—
विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्॥
(ऋ. 10-8-12)

'दिनों के प्रज्ञापक (केतु) विश्वाग्नि सूर्य को देवों ने किया, (बनाया)।

आचार्य शाकपूणि के मत में यह पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है, यह उत्तर ज्योतियों (माध्यमिक विद्युत् और (द्युलोकीय सूर्य) से या विश्वानरों से उत्पन्न होता है, अतः वैश्वानर है। इसी पार्थिव अग्नि के सम्बन्ध में कहा है कि यह सूर्य से मिलता है—'इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण; (ऋ. 1-89-1)।

अतः वैश्वानर त्रैलोक्स्य अग्नि का अभिधान है, परन्तु ऋषिगण सदा पार्थिव अग्नि से यज्ञसाधन करते थे, अतः उसकी विशेष स्तुति है, दिव्य ज्योतियों की स्तुति गौण है—

मूर्द्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥
(ऋ० 10-88-6)

रात्रि में यह पार्थिव अग्नि मूर्धा (शिर) होता है, प्रातः सूर्य रूप में उगता है। पुनः प्रज्वलित हुआ शीघ्र सर्व स्थानों में विचरण करता है, यह यज्ञिय (पूज्य) देवों की अद्भुत माया है।' यह वैश्वानर अग्नि त्रेधा (तीन प्रकार की) है यह मंत्रों में स्पष्ट कहा है—

तमू अकृण्वँस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ।
(ऋ० 10-88-10)

आदित्यरूप में स्तुति का प्रसिद्ध मन्त्र है—

"यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्" ।
(ऋ० 10।88।11)

'यज्ञिय देवों के आदितेय (अदिति=प्रकृति या पृथ्वी, उसका पुत्र) सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया।"

द्रविणोदा:—जिस प्रकार अग्नि की एक प्राचीन संज्ञा इन्द्र थी, उसी प्रकार द्रविणोदाः इसी अग्नि का अभिधान था। यास्काचार्य ने इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—'धनं' द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदाः।" (नि० 8।1)। 'धन ही द्रविण है अथवा बल ही द्रविण है क्योंकि लोग इनकी ओर दौड़ते हैं अथवा इनसे कार्य सम्पादन करते हैं धन या बल का दाता है अग्नि।

आचार्य शौनक ने क्रौष्टुकि के मत से बतलाया है कि द्रविणोदाः पार्थिव अग्नि है, बल और वित्त का दाता होने से वही प्रदीप्त अग्नि (इन्द्र) द्रविणोदाः है—

पार्थिवो द्रविणोदोऽग्निः पुरस्ताद् यस्तु कीर्तितः ।
तमाहुरिन्द्रं दातृत्वादेके तु बलवित्तयोः ।। (बृह० 3।61)

आचार्य कुत्स के मत में अग्नि धन या बल रूपी द्रविन का दाता है अतः द्रविणोदाः है—

द्रविणं धनं बलं वापि प्रायच्छद्येन कर्मणा ।
तत्कर्म दृष्ट्वा कुत्सस्तु प्राहैनं द्रविणोदसम् ।। (बृ० 2।25)

क्रौष्टुकि के मत को उद्धृत करते हुये यास्काचार्य ने लिखा है 'द्रविणोदाः कौन है, क्रौष्टुकि मत में इन्द्र है, क्योंकि वही बल और धन का श्रेष्ठ दाता है। इसकी पुष्टि में यह मन्त्र उद्धृत किया है—'प्रजश इन्द्रो अस्य वेद' (ऋ० 10।73।10) यह इन्द्र मध्यम अग्नि विद्युत् है, जिससे पार्थिव अग्नि उत्पन्न होती है—'यो अश्मनोरन्तरग्निमृजजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः। (ऋ० 2।12।3)

यह द्रविणोदा इन्द्र (अग्नि) सोमपान करता है। यही सहसुपुत्र या बल का पुत्र है, यही ऋषिपुत्र यही ऋत्विज् है। इन्द्रपान नाम के पात्र में यही द्रविणोदा अग्नि इन्द्र सोमपान करता है। ऐतरेयब्राह्मण (22।4) के ऋतुयाज-संज्ञक चार मन्त्रों के अन्त में वाक्य है—

'सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः' (ऋ० 2।30-1-4)

अतः द्रविणोदा इन्द्र (अग्नि) की सोमपान के अवसर पर स्तुति की जाती है, अन्यत्र मन्त्रों में अग्नि को स्पष्ट ही सोमपाता कहा गया है—

'अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः सोमं पिब
मन्दसानो गणश्रिभिः।" (ऋ० 5।60।8)

अतः मरुद्गणों का पति इन्द्र अग्नि का ही अपर नाम है।

शाकपूणि के मत में भी द्रविणोदा अग्नि का ही नाम है—'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' (ऋ० 1।96।1)।

आप्रीदेवता

द्वादश आप्रीदेवता शुद्धतः यज्ञिय साधन उपकरण और यज्ञ कर्ता आदि हैं। ये

देवता यज्ञाङ्ग[1] । प्रयाज और अनुयाज में स्तुत किये जाते हैं । ये प्रयाज और अनुयाज आहुतियाँ अग्नि देवता के लिये दी जाती हैं —'आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणम्', (नि० 8।21) । यज्ञ के प्रारम्भ में जो पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं वे प्रयाज और यज्ञान्त में आहुतियाँ हुत की जाती हैं वे अनुयाज कहलाती हैं । मन्त्र में कथन है—

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवलं ऊर्जस्वन्तो
हविषः सन्तु भागाः ।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां
प्रदिशश्चतस्रः ।। (ऋ० 10।51।9)

'यज्ञ हवि: के ऊर्जस्वान् भाग प्रयाज और अनुयाज हैं । हे अग्ने ! यह यज्ञ सर्वांश मे आपके लिये ही है । सभी दिशाओं के निवासी तुमको नमस्कार करते हैं ।

आप्रीमन्त्रों को ही याज्या भी कहते हैं ।

ऋग्वेद में क्रम से अग्न्यादि देवताओं की प्रत्येक मण्डल में स्तुतियाँ संकलित हैं, अतः आप्रीमन्त्र भी प्रत्येक मण्डल में मिलते हैं । आप्रीसूक्तों के द्रष्टा ऋषि क्रमशः हैं—

प्रथम मण्डल (1।13) मेधातिथि काण्व, 12 मन्त्र ।

इसी प्रकार दीर्घतमा, अगस्त्य, गृत्समद, विश्वामित्र, वसुश्रुत आत्रेय, वसिष्ठ, असित काश्यप, सुमित्र वाध्र्यश्व और जमदग्नि भार्गव के आप्री सूक्त हैं । अधिकांश आप्रीसूक्तों में 11-11 मन्त्र हैं ।

यास्क ने दशम मण्डल (10।110) में जो कि जामदग्न्यसूक्त है, उससे आप्री मन्त्रों को उद्धृत किया है । यज्ञविद्या और यज्ञपरम्परा में भार्गव ऋषियों का विशेष महत्व था, इसीलिये वासुदेव कृष्ण ने कहा है—

'महर्षीणां भृगुरहम्', (गीता 10।25)

भार्गवों के मन्त्र सर्वसाधारणतः मन्त्रों में प्रयुक्त होते थे, अतः यास्क ने उन्हीं को उद्धृत किया है, परन्तु जामदग्न्य आप्रीसूक्त में नाराशंस मन्त्र नहीं

---

1. प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे (अष्टा०)

है, नाराशंसी ऋचा वासिष्ठ सूक्त (ऋ० 7।2) से लेने का विधान है।

समस्त आप्रीसूक्तों में देवताओं क्रम समान है।

सर्वप्रथम 'इध्म:' आप्रीदेवता है, इसकी ऋचा यास्क ने यह उद्धृत की है—समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः। आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥" (ऋ० 10।11।1)

आचार्य कात्थक्य के मत में यह यज्ञेध्म की स्तुति है, शाकपूणि के मत में यह अग्नि की स्तुति है।

इसके अनन्तर तनूनपात्, नराशंस, इड, उषासानक्ता तिस्रो देव्यः आदि की स्तुति है। कात्थक्य के मत में तनूनपात् आज्य (घृत) है, शाकपूणिमत में यह अग्नि का नाम है।

कात्थक्य के मत में नाराशंस यज्ञ है—'नरा अस्मिन्नासीना शंसन्ति" 'मनुष्य इस (यज्ञ) में बैठकर स्तुति करते हैं।' शाकपूणि के मत में यह भी अग्नि का नाम है।

'ईड' स्तुतिकर्म के अर्थ में है, इसका अर्थ पृथ्वी, अन्न वाग् आदि होता है, यज्ञिय भक्त को इडा कहते हैं। मुसलमानों के 'ईद' में यही परम्परा अवशिष्ट है। यह अग्नि का नाम भी है।

बर्हिः कुश का नाम है। बर्हिः यज्ञ का प्रमुख उपकरण था।

यज्ञशाला (प्राचीनवंश) के दरवाजे 'देवीः द्वार' भी द्वादश आप्रीदेवताओं में सम्मिलित थे—

'देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रयाणाः' (ऋ० 10।110।5)

कात्थक्य के मत में यह यज्ञगृहद्वार की स्तुति है। शाकपूणि इसे भी अग्नि स्तुति मानते थे।

उषाः और नक्ता (रात्रि और प्रातः) का नाम ही उषासानक्ता था। ये भी एक युगल आप्री देवता थे।

दैव्याहोतारा—यह पार्थिव अग्नि और मध्यम अग्नि (विद्युत्) का नाम

था। अथवा होता नाम के ऋत्विक् और अग्नि की यह स्तुति की जाती थी, क्योंकि होता (अग्नि और पुरोहित) यज्ञ के साधक थे।

तिस्र: देव्य:—भारती इला और सरस्वती—ये तीन यज्ञदेवियाँ प्रमुख आप्रीदेवता थी, इनकी स्तुति ऋषिगण उदारभाव से करते थे—

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विला मनुष्यवदिह/चेतयन्ती तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपस: सदन्तु ॥ (ऋ० 10।110।8)

'मनुष्य के समान ज्ञानवती (चैतन्य) भारती (भरत आदित्यस्तस्य भा:—सूर्यप्रकाश) इला (अग्नि या पृथिवी) और सरस्वती (वाणी या नदी)—ये तीनों देवियाँ—शोभनं कर्मवाली—बहुत सुख से यज्ञ में बैठें।''

त्वष्टा—यह सूर्य या दैवीय बढ़ई या लौकिक बढ़ई का उपलक्षक था, क्योंकि यज्ञोपकरणों (काष्ठों) के निर्माण में त्वष्टा (तक्षा—बढ़ई) का महान् योगदान होता था, अत: वह भी पूजनीय था। आदित्य (अदितिपुत्र) त्वष्टा असुरों का पुरोहित (याज्ञिक) और महान् शिल्पी था। इनकी पुत्री सरण्यू विवस्वान् सूर्य की पत्नी थी, जिससे अश्विनीकुमार उत्पन्न हुये। त्वष्टा का पुत्र ही महान् असुर वृत्र था, जिसका वध इन्द्र ने किया। त्वष्टा के शिष्य ऋभु विभ्वा और वाज (अङ्गिरस) इनसे भी बढ़कर महान् शिल्पी हुये। अत: त्वष्टा (तक्षा) ब्राह्मणतुल्य पूज्य माने जाते थे। यज्ञ में यह एक आप्री देवता था।

नैरुक्तों के मत में त्वष्टा माध्यमिक (अन्तरिक्षस्थानीय) देव है। शाकपूणि के मत में यह अग्नि ही है।

वनस्पति:—कात्थक्य के मत में यह यूपकाष्ठ है। शाकपूणि के मत में अग्नि है।

अन्तिम आप्रीदेवता स्वाहाकृतय:—यज्ञ के लिये स्वाधायुक्त आहुतियाँ स्वाहाकृति है—

'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवा:' (ऋ० 10।110।11)

पाँच प्रयाज आहुतियाँ पाँच ऋतुयें हैं, अथवा छन्द या पशु भी माने गये हैं, इनके लिये ये आहुतियाँ दी जाती हैं। प्राण और आत्मा (शरीर) को भी प्रयाज और अनुयाज कहते हैं।

पार्थिवसत्त्वदेवता

अश्वादि 36 पार्थिव सत्त्वदेवतों का परिगणन पूर्वपृष्ठों पर किया जा चुका है। ऋग्वेद में यत्र-तत्र इनकी स्तुति मिलती है।

अश्वः—प्राचीन भारत में अश्व का महत्त्व स्पष्टतः ही अद्वितीय था। यह बल और वीर्य का प्रतीक एवं सूर्य अथवा प्रजापति का प्रतीक माना जाता था। अश्व से सम्बन्धित अश्वमेधयज्ञ यज्ञों में सबसे महान् और पुण्यतम यज्ञ माना जाता था।

अश्व के 26 पर्याय निघण्टु (1।14) में संग्रहीत है। √अश से अश्व शब्द बना है, जिसके अर्थ है व्याप्त करना, भोजन करना या प्राप्त करना। प्राचीन भारत में अश्व (Horse) की गति (चाल) और शक्ति के आधार पर इनका मान निर्धारित होता था, जो आज भी 'होर्सपावर' के नाम से प्रचलित है। वेद में देवजात अश्व की महान् महिमा गाई गई है—"यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि" (ऋ० 1।162।1)

शकुनिः—यह √शक् में क्विप् और इन् प्रत्ययों को लगाकर बना है, इस सम्बन्ध में मन्त्र उद्धृत है—

भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जल॥

मण्डूक—संवत्सरयज्ञों में मण्डूक (मेंढक) का प्रयोग किया जाता था। मण्डूक की स्तुति वासिष्ठसूक्त (ऋ० 7।103।1) में प्रसिद्ध है—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः॥

इनके अनन्तर अक्ष (द्यूताक्ष) का व्याख्यान है। ऋग्वेद का अक्षसूक्त (10।34) प्रसिद्ध है। इसमें द्यूत की निन्दा है।

ग्रावाणः—तदनन्तर सोम को कूटने वाले ग्रावाणः की यास्क ने व्याख्या

की है।

नाराशंस—ऋग्वेद के जिन मन्त्रों में राजाओं के महान् और उदात्त कर्मों तथा उच्चावच दानों की प्रशंसा की गई है, वे मन्त्र नाराशंस कहलाते हैं—

'येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः।'

ऋग्वेद में ऐसी दानस्तुतियाँ पर्याप्त मिलती हैं।

यज्ञ (में दानादि) के कारण राजा की स्तुति की गई है और राजसंयोग से युद्धोपकरणों की स्तुतियाँ की गई हैं। स्तुत युद्धोपकरणों में रथ, दुन्दुभि, इषुधि (तरकस), हस्तघ्न (दस्ताना), अभीशु, धनुः, ज्या, इषु (बाण) और अश्वाजनी (कशा=चाबुक) हैं।

तदनन्तर उलूखल स्तुति की निगद व्याख्या है।

वृषभः—अश्व के अनन्तर प्राचीन भारत में वृषभ का महत्व था। ऋग्वेद में वृषभ की बहुधा स्तुति है, यह मात्र बैल नहीं है। परन्तु इस प्रकरण में यह बैल का ही कथन है। इतिहास है कि मुद्गल भार्म्यश्व पाञ्चालनरेश ने वृषभ और द्रुघण (मुद्गर) से संग्राम में आजि (बाजी) को जीता—

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु॥
(ऋ० 10।102।9)

पितुः—यह अन्न का नाम है, जिससे अंग्रेजी का फूड, (Food) शब्द निष्पन्न है।

नद्यः निम्न नदियों का यास्क ने इस प्रकरण में निर्वचन (9।3) किया है। यथा गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, इरावती, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधाः, वितस्ता, आर्जीकीया (विपाट्), गङ्गा गमनात्—गमन करने से गङ्गा नाम पड़ा, मिश्रण या संयोग करने से यमुना, (प्रयुवती गच्छतीति), 'सरस्' यह जल (उदक) का नाम है, तद्वती हुई सरस्वती। शु या शीघ्र द्राविणी होने से शुतुद्री, इरा (जल) वती को पर्ववती होने से परुष्णी, असितवर्णा असिक्नी, मरुतों से

वृद्ध मरुद्वृधा, विवृद्धा या विस्तृता ही वितस्ता। ऋजीक पर्वत से निकलने के कारण आर्जीकीया नदी को विपाट् कहते हैं। इस सम्बन्ध में यास्क ने लिखा है—

पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः।
तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा ॥ (नि० 9-3-25)

'इस नदी में वसिष्ठ के पाश (फाँसी) खुल गये, इसलिए इसका नाम विपाशा (व्यास) नदी पड़ा, पहिले इसका नाम उरुञ्जिरा था।'

तदनन्तर यज्ञ के साधन पृथिवीस्थ सत्व-आपः ओषधिः, रात्रिः, अरण्यानी अरण्यस्य वनस्य पत्नी-अरण्यम् अरणमीयम्) श्रद्धा (सत्यवाक्), पृथिवी, अप्वा (व्याधि) अग्नायी अग्निपत्नी का व्याख्यान है।

अष्ट द्वन्द्व—तदनन्तर यास्क ने आठ द्वन्द्व यज्ञोपकरणों या देवताओं का व्याख्यान किया है। ये हैं— उलूखलमुसले हविर्धाने, द्यावापृथिवी विपाट्छुतुद्री आर्त्नी (धनुष्कोटि), शुनासीरौ और देवीजोष्ट्री। इनमें तीन अन्तिमों का व्याख्यान इस प्रकार है

शुनासीरौ—'शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे, सीर आदित्यः सरणात्।' (नि० 9-4-40) 'शुनः वायु का नाम है और सीरः आदित्य सूर्य है। ये दोनों देवता चातुर्मास्य ऋतुयज्ञों विशेषतः कृषियज्ञों में स्तुत किये जाते थे। वायु और सूर्य के द्वारा वर्षा होती थी अतः मंत्र में स्तुति है—शुनासीराविमं वाच जुषेथां यद्दिवि चक्रथु पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्।' (ऋ० 4।57।5)।

'हे शुनासीरौ (वायो और आदित्य) आप इस यज्ञ में प्रवर्तित वाणी को सुनो, जिससे अपने आकाश में पयः (जल) उत्पन्न किया। इस जल से पृथिवी को सींचो। अर्थात मेघों से वर्षा करो।'

देवी जोष्ट्री—यास्क के मत में ये द्यावापृथिवी, या अहोरात्र है। कात्थक्य के मत में शस्य (फसल) और समा (वर्ष) हैं।

देवी ऊर्जाहुती—यह भी पूर्वमतों के अनुसार द्यावापृथिवी, अहोरात्र या सस्य और समा हैं।

इन सबका सम्बन्ध कृषियज्ञों से था। प्राचीन भारत में प्रत्येक श्रेष्ठ (वैयक्तिक या सामाजिक) कर्म यज्ञ माना जाता था—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं' कर्म (श. ब्रा.) अतः खेती एक प्रमुख यज्ञ था। ब्राह्मणग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों के वर्णनों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है।

उपर्युक्त सभी तत्त्वों का यज्ञसम्पादन में योगदान था, अतः यज्ञ में इनकी स्तुति की जाती थी।

अन्तरिक्षस्थानीय देवता

पृथिवी और सूर्य के मध्यवर्ती अवकाश को अन्तरिक्ष कहते है, इसको ही भुवः कहते हैं जो गायत्री मन्त्रोल्लिखित द्वितीयलोक है इसी को आधुनिक भाषा में 'वायुमण्डल' कहते हैं।

अन्तरिक्ष का प्रमुख उपयोग पृथिवीवासी मानव के लिए वायु और वर्षा है। ये दोनों (वायु और वर्षाजल) तथा सूर्य ही जीवन के आधार है। अंतरिक्ष का प्रमुख देव वायु या इन्द्र है। यह इन्द्र मेघस्थित वैद्युताग्नि ही है। इसी को रुद्र, मरुत् आदि नामों से वेद में कहा गया है इन सबका क्रमिक वर्णन इस प्रकरण में किया जायेगा।

प्राकृतिक सृष्टियज्ञ के अनुकरण पर अन्तरिक्षलोक (इन्द्रदेवता) का सम्बन्ध (सोमक्रतु में) माध्यंदिन सवन, ग्रीष्मर्तु, त्रिष्टु, छन्द, पंचदश स्तोम, अग्नि (विद्युत्) सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, पर्वत, कुत्स विष्णु, वायु तथा स्त्री देवता अदिति, सरमा आदि से है।

इन्द्र का प्रधानकर्म निरुक्त में इस प्रकार कहा गया है—

'अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' 'रस (जल) का अनुप्रदान, वृत्रवध (दुष्टनाश) और जो भी (क्षत्रिय का राजा का) बलकर्म है, वह सब इन्द्र का कर्म है।

मित्र के साथ वरुण की, पूषा के साथ रुद्र और सोम की अग्नि के साथ पूषा की और वात के साथ पर्जन्य की स्तुति की गई है।

वायु—पूर्वकालीन ऋषियों के मंत्रों में, जो प्रायः लुप्त हैं, अग्नि की ही इन्द्र नाम से स्तुति थी, उत्तरकालीनमन्त्रों में, जो उपलब्ध हैं, वायु (मेघ)

और उसकी शक्ति विद्युत् की संज्ञा ही प्रधानतः इन्द्र हुई। इस समय ऋग्वेद में अग्नि और इन्द्र के मन्त्रों की ही प्रधानता है जो मूल में एक ही देवता थे।

अन्तरिक्ष में वायु की प्रमुखता है। यजुर्वेद में प्रथम और प्रमुख देवता वायु है और ऋग्वेद में अग्नि है। यास्क ने वायुस्तुतिपरक यह मन्त्र उदाहृत किया है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि श्रुधीहवम्।
(ऋ० 1।2।1)

'हे वायो। ये दर्शनीय अलंकृत या शुद्ध सोम हैं। उनको पीओ और हमारे आह्वान को सुनो।

वायु को वात भी कहते हैं। इन दोनों शब्दों (वायु और वात) की व्युत्पत्ति वा से हुई है। वायु शब्द मूलत 'आयुः' था, इसमें वा शब्द निरर्थक है ऐसा आचार्य स्थौलाष्ठीवि का मत था जिसकी पुष्टि ऋग्वेद के निम्न मन्त्रों से होती है—

अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतो जुषन्त ॥ (ऋ० 9।67।8)
आयुः पवत आयवे। (5।4।1)

√वा, या√यु से आयुः पद निष्पन्न है, क्योंकि वायु आता है (चलता है) और मिश्रण करता है। वायु को प्राण भी कहते हैं, आयु और प्राण प्रायः समानार्थक अर्थात् जीवनद्योतक पद है। नैरुक्तिक निर्वचन इस प्रकार है—'वायुर्वातेः वेतेर्वा गतिकर्मण' एतेरिति स्थौलाष्ठीविः' (नि॰ 1।1) √वा और √वी दोनों ही गतिकर्मा हैं। आचार्य शौनक ने वायुपद का निर्वचन इस प्रकार किया है—

अणिष्ठ एव वस्तु त्रील्ँव्याप्यैको व्योम्नि तिष्ठति।
तेनैनमृषयोऽर्चन्त कर्मणा वायुमब्रुवन् ॥ (बृहद्० 2।32)

'यह आकाश में सूक्ष्मरूप से रहता हुआ तीनों लोकों को व्याप्त करता है, इस कर्म के कारण ऋषिगण अर्चना करते हुए ऐसा कहते हैं।
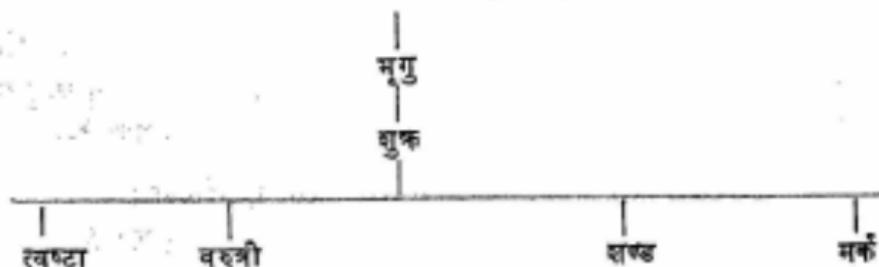
वरुण—वायु के आर्द्ररूप को, जो मेघ के रूप में संसार को आवृत करता है, वरुण कहते थे—

श्रीणीमान्यावृणोत्येको मूर्तेन तु रसेन यत्।
तयैनं वरुणं शक्त्या स्तुतिष्वाहुः कृपण्यवः ॥ (बृहद्० 2/33)

ऋग्वेद के मन्त्रों में वरुण के साथ प्रायः असुर विशेषण आता है, अतः आधुनिक अन्वेषकों का मत है कि वरुण का असुरों (दैत्यदानवों) से विशेष सम्बन्ध था और वह असुरों प्रधानदेव था। ऐतिहासिक वरुण या प्रचेता दैत्यदानवों का पूर्वज था, जैसा कि निम्न वंशपरम्परा से सिद्ध होता है—

वरुण—असुरमहत् या यादसांपति,[1] प्रचेता।

वृत्रासुर—अहिदानव

अतः असुरों द्वारा वरुण को असुर महान् के रूप में पूजना उचित और ऐतिहासिक तथ्य था। नैरुक्तिक वृत्तों के साथ ऐतिहासिकवृत्तों का स्मरण करना भारतीय परम्परा रही है, ऋग्वेद से बृहद्देवता और सायणाचार्य तक ने इस परम्परा का पालन किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती और पाश्चात्य अन्वेषक इस सत्यभारतीयपरम्परा को नहीं मानते, यह उनकी महती भूल है।

वरुण अदिति का ज्येष्ठपुत्र और सूर्य (विवस्वान्) इन्द्र आदि का पूर्वज भ्राता था। वह देवों के लिए भी पूज्य और पूर्वदेव था, अतः मन्त्रादि में वरुण

1. यादसाम्पति वरुण के ही वंशज गन्धर्व अप्सरायें थी, विशेष द्रष्टव्य भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 232।

की निन्दा नहीं है, जबकि असुर वृत्रासुर वरुण की पाँचवी पीढ़ी में हुआ, वृत्र का इन्द्र से घोर युद्ध हुआ, वह देवों का शत्रु था अतः मंत्रों में उसकी घोर निन्दा है।

प्रतीत होता है कि प्रचेता वरुण का ऐतिहासिक वृत्तान्त महाभारतयुग में ही अस्पष्ट और धुंधला हो गया था।

वरुण की प्रजा गंधर्व और अप्सरा समुद्रीयद्वीपों में उपनिविष्ट हो गई थी, ये जलक्रीड़ा में निपुण थी। वरुण से लेकर बलि तक असुरों का साम्राज्य समुद्रीयदेशों अर्थात् पातालों में रहा, इसलिये वरुण को यादसांपति, समुद्रवासी और पाश्चात्यदेशों (पश्चिमीदिशा) का अधिपति कहते हैं।

मंत्रों में इतिहास और गाथा का मिश्रण है ऐसा प्राचीन नैरुक्तों को भी मानना पड़ा। निरुक्त में वरुण शब्द 'वृणोतीति सतः' कहकर √ वृ धातु से निष्पन्न माना है। निम्न मंत्र में वरुण वायु के मेघरूप को कहा गया है—

नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।

(ऋ० 5।85।3)

'अधोगामी मुख वाले वरुण (वायु) ने मेघ को सृजा, जिससे द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष उत्पन्न हुये।

रुद्र—वर्षणयोग्य मेघ जब गर्जन करता है, और बिजली की कड़क के साथ वर्षा होती है, तो उस वायु या मेघ की संज्ञा रुद्र होती है। अग्नि की भी रुद्र संज्ञा वेद में प्रसिद्ध है यह पूर्वपृष्ठों पर लिखा जा चुका है। निरुक्त में रुद्र पद का निर्वचन इस प्रकार है—'रुद्रो रौतीति सतः, रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा नि० (1-1)

रौति या शब्द (रोड़ा) करता है, रोता हुआ (शब्दायमान) बहता है या वर्षता है, गर्जन या ताड़न से रुलाया जाता है।

काठकसंहिता (25।1) में लिखा है—'यदरुदत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'—

1. वरुण आदित्यो राजेत्याह तस्य गन्धर्वा विशः (श. ब्रा. 13।4।3।6)

जो रोया वह रुद्र (मेघ) का रुद्रत्व है।' बृहद्देवता में और अधिक स्पष्टतः कहा है—

> अरोदीदन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम् ।
> चतुर्भिऋषिभिस्तेन रुद्र इत्यभिसंस्तुतः ।। (बृहद्॰ 2।34)

'अन्तरिक्ष में गर्जना करते हुये मनुष्यों के लिए बिजलीसहित वर्षा की अतः चार ऋषियों (कण्व, कुत्स, गृत्समद और वसिष्ठ) ने रुद्र के नाम से मेघ की स्तुति की है।'

ऐतिहासिक रुद्र (महादेव) जो प्रजापति प्रचेता के पुत्र थे, अर्जुन के समान बाणों के वर्षक थे, ऋग्वेद और यजुर्वेद (शतरुद्रीय प्रकरण) में रुद्र का ऐतिहासिक रूप स्पष्ट है, इतिहासपुराण उसका उपबृंहण करते हैं। यास्क द्वारा उद्धृत मन्त्र में रुद्र का ऐतिहासिकरूप स्पष्टत आभासित होता है—

> इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
> अषाढाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ।।
> (ऋ॰ 7।46।1)

इस मन्त्र को मेघ के ऊपर घटाते हुये भी कोई बुद्धिमान् पिनाकी रुद्र को भूल नहीं सकता।

इन्द्र—अग्नि और वायु दोनों की संज्ञा इन्द्र थी, यह अन्तरिक्ष का प्रधान देव माना गया।

निरुक्त में अनेक प्रकार से 'इन्द्र' का निर्वचन किया है यथा 'इरां दृणातीति वा ददातीति वा, दधातीति वा दारयत इति वा, धारयत इतिवा।' इरा अन्न या जल को कहते है, वह इरा (अन्न या जल) को भेदता है, देता है, धारण करता है, विदीर्ण करता है या धारण करता है अतः इसकी इन्द्रसंज्ञा है। इन्दु इन्ध, इदम् इन्दति आदि से भी 'इन्द्र' पद की निरुक्ति यास्क ने की है। इन्द्र के बलकर्मादि कार्य पहिले बताये जा चुके है। मन्त्रों में इन्द्र का एक प्रमुख कार्य वृत्रवध बहुधा बताया है। जलरोधकशक्ति ही वृत्र है, इन्द्र जब वृत्र (मेघ) रूपी वृत्र का वध करते हैं, तब वर्षा होती है, मन्त्रों में ऐतिहासिक

इन्द्र और वृत्र का आभास सर्वत्र चलता है। जलरोधक वृत्र और इन्द्र द्वारा जलमोचन का प्रसिद्ध मन्त्र है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥

(ऋ० 1।32।11)

'दस्यु-असुरों की पत्नियाँ अथवा जल अहि (वृत्र) द्वारा रक्षित थीं, उन जलों को वृत्र ने उसी प्रकार रोक रखा था, जिस प्रकार पणि (व्यापारी) गायों को रोक रखता है। आपों का बिल (मुख) बन्द था, इन्द्र ने वृत्र को मार दिया और पानी बरसने लगा।' इस मन्त्र में प्राकृतिक और ऐतिहासिक दोनों घटनाओं का स्पष्ट वर्णन है। ऐतिहासिक घटनाओं का मन्त्रों में अन्यत्र भी वर्णन है यथा—

'वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा।' (ऋ० 6।89।3)

विष्णु के साथ इन्द्र ने पर्वत पर आश्रित वृत्र को मारा—'अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः। (ऋ० 6।20।2)

'अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।'

(ऋ० 1।32।2)

ऋग्वेद में जो यह लिखा है 'न त्वं युयुत्से' (ऋ० 10।54।2) और शतपथ ब्राह्मण (11।1।6।9) में—'तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वद् उद्यत इतिहासे त्वत्' लिखा है, इसका भाव है कि यज्ञादि के विनियोग के समय इन मन्त्रों के ऐतिहासिक अर्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिए, अन्यथा शतपथब्राह्मण में मन्त्रों के व्याख्यान में जो अनेक उपाख्यान लिखे हैं यदि उन घटनाओं का मन्त्रों से सम्बन्ध नहीं होता तो वे वहाँ क्यों लिखे जाते, अतः महाभारत और इतिहासपुराणों के वाक्य पूर्ण सत्य हैं केवल अल्पश्रुत के लिये ही झूठे हैं (द्रष्टव्य निरुक्तमीमांसा-शिवनारायण शास्त्री पृ० 352-53)

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ (म० 1।1।267)

पुराणं पूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः । (म० 1।1।86)
पुराणं येन्न विद्यान्न स स्याद् विचक्षणः । (पुराण)

अनेक मन्त्रों में 'इन्द्र' पद निश्चय ही परमात्मा का प्रतीक या बोधक है, यथा—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।'
'रूपं रूपं मघवा बोभवीति ।'
'यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु जातमष्टरोदसी ।
'इन्द्रः सूर्यमरोचयद् ।'
'इन्द्रे ह विश्वा भुवनानियेमिरे ।'

वेदमन्त्रों में इन्द्र का एक प्रधान अर्थ परमात्मा भी है, परन्तु अन्य अर्थों को विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

पर्जन्य—माध्यमिक प्रधान देव इन्द्र का ही एक रूप पर्जन्य है । पर्जन्य शब्द की व्युत्पत्तियाँ निरुक्त और बृहद्देवता के आधार पर पहिले लिखी जा चुकी है । ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के पर्जन्यसूक्तों के रचयिता वसिष्ठ ऋषि थे । पर्जन्य सम्बन्धी यास्कोद्धृत प्रसिद्ध मन्त्र है—

विवृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात् ।
उता नागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ।।
(ऋ० 5।81।2)

'वृक्षों को गिराता है, राक्षसों को मारता है महावध से भुवन को डराता है, यह वर्षणशील पर्जन्य से निष्पाप भी डरता है और शब्दायमान पर्जन्य पापियों को नष्ट करता है ।

बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, क्षेत्रस्यपति, ऋत, वास्तोष्पति और वाचस्पति—इन्द्ररूपी मेघ के विभिन्न गुणों एवं अवस्थाओं के आधार पर निरुक्त में 27 और बृहद्देवता में 26 नामों का निर्वचन किया है । इतिहास में बृहस्पति आङ्गिरस देवराज इन्द्र के पुरोहित और गुरु थे । परन्तु वेद में ये ईश्वरीय या आकाशीय शक्ति के विभिन्न रूप हैं, यथा 'बृहस्पति' पद का अर्थ है बृहत्

(आकाश या संसार) का पति=रक्षक या पालक मेघ। इसी प्रकार ब्रह्म का अर्थ है उदक (जल) उसका पति=ब्रह्मणस्पतिः=मेघः। इसी प्रकार क्षेत्रस्य पतिः खेत का पति=मेघ। क्योंकि बिना वर्षा के खेती नहीं हो सकती अतः मेघ क्षेत्रस्यपतिः है। प्रायः यही अर्थ वास्तोस्पति का है, वासस्थान का रक्षक 'ऋत' या 'ऋतस्य श्लोकः' जल या सृष्टि नियम की संज्ञा है, यह भी ईश्वर का पर्याय मानना चाहिए। यह गृहदेवता की संज्ञा थी।

अपांनपात्—तनूनपात् शब्द के आधार पर इसकी व्याख्या है आप या जलों का नप्ता (पौत्र)। यास्काचार्य ने ऋग्वेद का निम्न मन्त्र उद्धृत किया है, उससे सिद्ध होता है यह मेघस्थ विद्युत् का अभिधान है—

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥
(ऋ० 10।30।4)

'जो बिना ईंधन के जलों के मध्य में प्रदीप्त होता है, जिस (अग्निरूप विद्युत्) की यज्ञों में स्तुति करते हैं वह अपांनपात् हमें मधुमती अप प्रदान करे, जिससे इन्द्र (रूप अग्नि या यज्ञ) बल के लिए बढ़ता है।

अन्यत्र मन्त्र है—

अपां नपादा ह्यस्थादुपस्थं जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः।
(ऋ० 2।35।९)

यमः—ऐतिहासिक यम विवस्वान् के पुत्र और मनु के अग्रज थे, मन्त्रार्थ के आधार पर ऐतिहासिक यम का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध वेदाचार्य शौनक ने ऐतिहासिक यम का स्पष्ट ही अस्तित्व स्वीकार किया है—

इह प्रजाः प्रयच्छन्स संगृहीत्वा प्रयाति च।
ऋषिर्विवस्वतः पुत्रं तेनाहैनं यमो यमम्॥ (बृहद्दे० 2।48)

यह संसार को सन्तान प्रदान करते हैं और उनको संग्रह करके अन्य लोक में ले जाते हैं, अतः वैवस्वत यम ऋषि उनको 'विवस्वत्पुत्र यम' कहते हैं। यही इस मन्त्र का ऋषि है—

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ।।

(ऋ० 10।14।1)

अग्नि वायु आदि की भी यम संज्ञा है विस्तारभय से अधिक नहीं लिखते कुछ मध्यमस्थानी देवता द्युलोक के भी देवता हैं।

मित्र—इसको प्रायः आदित्य (सूर्य) का पर्याय माना जाता है, परन्तु इस की वरुण के साथ युग्म देवता (मित्रावरुणा) के रूप में स्तुति की जाती है अतः मध्यमस्थानी देव माना गया है। केवल एक सूक्त (3।59) में इसकी स्वतन्त्र स्तुति की गई है। जल का दाता होने से मेघ का नाम भी आदित्य या मित्र है, क्योंकि अदिति आकाश की संज्ञा भी है, आकाश से उत्पन्न मेघ भी आदित्य (मित्र या वरुण) है। यास्क ने 'मित्र' शब्द का जो निर्वचन किया है, उससे भी मित्र का अर्थ जल सिद्ध होता है—

'मित्रः प्रमीतेस्त्रायते । सम्मिन्वानो द्रवतीति वा। मेदयतेर्वा, (नि० 10।2।21)—"(जल या मेघ) मृत्यु से रक्षा करता है, सिञ्चन करता हुआ बहता है, गीला करता है। इससे सिद्ध है कि मित्र जल की संज्ञा थी। निम्न-मन्त्र में मित्र (मेघ) का सम्बन्ध कृष्टि (कृषि) से है—

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार
पृथिवीमुत द्याम् ।
मित्रः कृष्टिरनिमिषाभि चष्टे
मित्राय हव्यंघृतवज्जुहोतन ।। (ऋ० 3।59।1)

"मेघ (मित्र) शब्द करता हुआ जनों को प्रेरित करता है, मित्र ने पृथिवी और आकाश को धारण किया, मित्र कृष्टि कृषि या कृषकों को निरन्तर देखता रहता है और मित्र के लिये घृतयुक्त हवि होमो।"

क—(प्रजापति)—वेद में 'क' का अर्थ जल या प्रजापति है। सृष्टि के आदिकाल में हिरण्यगर्भ रूप (सूक्ष्मरूप) में स्थित थे। 'क' का अर्थ सुख या कमनीय भी होता है। स्थूल रूप में सर्वप्रथम जलों की उत्पत्ति हुई, अतः उसको हिरण्यगर्भ प्रजापति कहा है (जल ही प्रजा का पालक है)—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मैदेवाय हविषा विधेम ॥
(ऋ० 10।121।1)

प्रजापति का अर्थ है प्रजा का पालक। इतिहास में स्वयम्भू, दक्ष, प्रचेता, कश्यप, मनु आदि 21 प्रजापति हुये हैं। प्रकृति में सूर्य, अग्नि, जल, वायु आदि प्रजापति हैं, क्योंकि ये प्रजा (सृष्टि) के पालक या रक्षक हैं।

सरस्वान्—मेघ या समुद्र की संज्ञा है, यह मध्यस्थानी होने से मेघ की संज्ञा है, 'सरस्' जल की संज्ञा है, जलवायुक्त मेघ सरस्वान् हैं, इसी आधार पर 'सरमा' मेघस्थ विद्युत् का नाम है।

विश्वकर्मा—इतिहास में भुवन ऋषि का पुत्र विश्वकर्मा भौवन महान् यज्ञशील सम्राट् हुआ जिसने सर्वमेध यज्ञ में प्रजापति कश्यप को ससागरा पृथिवी दान में दे दी थी।

यास्क ने मन्त्रों के उदाहरणों के साथ ऐतिहासिक विश्वकर्मा के अतिरिक्त इसका अर्थ किया है 'विश्वकर्मा सर्वस्यकर्ता' (परमात्मा), धाता, विधाता, आदित्य, इन्द्र या प्राण है। निरुक्ताचार्यों के मत में यह मेघ या वायु की संज्ञा है—

'विश्वस्य जनयन्कर्म विश्वकर्मैषतेन सः।' (बृहद्दे० 2।50)

क्योंकि मेघ जल से सर्वसृष्टि होती है अतः मध्यमस्थानी मेघ की संज्ञा भी विश्वकर्मा है।

तार्क्ष्य—त्वष्टा के समान ही इस शब्द का निर्वचन है, तूर्णमश्नुते (नि० 8।11) शीघ्र व्याप्त हो जाता है, √त्विष या √त्वक्ष् से दीप्ति या छीलने के अर्थ में।

एक त्वष्टा आदित्य था, एक उशना काव्य का वंशज था, जिसका पुत्र त्वाष्ट्र वृत्रासुर हुआ। नैरुक्त व्याख्यान, तार्क्ष्य पद का इस प्रकार है— 'तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षति अश्नोतेर्वा' (नि० 10।3।26) —'विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में निवास करता है, शीघ्र अर्थ (अर्थनीय=जल) को वर्षा के लिये प्राप्त (या व्याप्त) करता है या उसकी रक्षा करता है, अतः तार्क्ष्य मेघ की

संज्ञा है। अरिष्टनेमि तार्क्ष्य ने 'तार्क्ष्य' नाम से मेघ की स्तुति की है। तार्क्ष्य या त्वष्टा का अर्थ बढ़ई (तष्टा) भी प्रसिद्ध है। आप्रीदेवों में बढ़ई की ही रथकार के रूप में स्तुति है, क्योंकि यज्ञोपकरणों का निर्माता वही होता था। त्वष्टा और उसके शिष्य ऋभु, विभ्वा और वाज की महान् शिल्पी होने के कारण ही इतनी महिमा थी। निम्न मन्त्र में भी यही भाव है—

तरुतारं रथानाम्।

अरिष्टनेमि······तार्क्ष्यमिहा हुवेम (ऋ० 10।178।1)

तार्क्ष्य या अरिष्टनेमि वैनतेय गरुड़ को भी कहते थे। परन्तु यह ऐतिहासिक देव था।

मन्यु—अन्तरिक्षस्थानी मेघ की एक संज्ञा मन्यु थी। यास्क ने दीप्त्यर्थक √मन धातु से इसका निर्वचन किया है, क्रोध और वध भी इस धातु का अर्थ माना है। शौनक ने इस मन्यु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

ससृजे मासि मास्येनम् अभिमत्य तपोऽग्रजम्। (बृहद्दे० 2।53)

'इच्छा करते हुये अग्रज तप ने इस (मेघ) का प्रतिमास सृजन किया।'

दधिक्रा:—शौनक ने इस पद का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

अपामम्बरगर्भौघम् आदधत्सोऽष्टमासिकम्।
यत्क्रन्दत्यसकृन्मध्ये दधिक्रास्तेन कथ्यते ॥ (बृहद्दे० 2।56)

(मेघ) आकाश में आठ महीने पर्यन्त जलों को धारण करते हैं, और अन्तरिक्ष में यदा कदा गर्जना करते हैं अतः इनका नाम दधिक्राः हुआ। यास्क ने इनको अश्व और देवता भी माना है। मध्यस्थानीय देवगण में दधिक्रा: मेघ है। इसको सूर्य के समान माना है—

'आ दधिक्रा: शवसा पञ्च कृष्टीः
सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान। (ऋ० 4।38।10)

सविता—सबका उत्पादक (सूर्य, वायु, अग्नि या जल) सविता है मध्यस्थानीय देवों में सविता का अर्थ जल (मेघ) है और द्युस्थानीयदेवों में सूर्य तथा पृथिवीस्थानों में यह अग्नि है। इसको प्रजापति भी कहते थे। सविता

और प्रजापति का सम्बन्ध जनन या उत्पादन से है अतः कोई भी उत्पादक सविता कहा जा सकता है।

निम्न मन्त्र में मेघ या वायु (या आकर्षणशक्ति) का नाम है जो लोकालोक को स्थिर किये हुये है—

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्। अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् ॥ (ऋ० 10।149।1)

'सविता (वायु) ने नियन्त्रक शक्ति से पृथिवी को निरालम्ब स्थिर किया, सूर्य को दृढ़ किया। मध्यमस्थानी (सूर्य और पृथिवी के) बीच में मेघ को प्रेरित किया वायुबद्ध यह मेघ (समुद्र) वायुबल से ही घूमता है।

त्वष्टा—यह पहिले कहा जा चुका है कि मध्यमस्थानी त्वष्टा देवता मेघ है, इसी को सविता भी कहते हैं, द्युस्थानीय त्वष्टा सूर्य है, निम्न मन्त्र में सविता (उत्पादक) विश्वरूप (अनेकरूप) मेघ या वायु को त्वष्टा-सविता कहा है—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः
पुरुधा जजान। (ऋ० 3।55।19)

वातः—यह सामान्य वायु की संज्ञा है—

वात आवातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्रण आयूंषि तारिषत् (ऋ० 1।186।1)

'हे वात! तुम भेषज (प्राण) शान्तिकारक सुखकारक होकर हमारे हृदयों में आओ और हमारी आयुओं को बढ़ाओ।'

वेनः—इच्छा या सौन्दर्य के अर्थ में वेन से यह शब्द बना है, इसके अनेक अर्थ हैं, एक अर्थ शुक्राचार्य और शुक्र या वीर्य भी है। शुक्रग्रह को भी वेन कहते हैं इसी से अंग्रेजी 'वेनस' (Venus) शब्द निष्पन्न हुआ। मध्यस्थानी देवों में वेन वायु या इन्द्र है—'अपो वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा इतीन्द्र उ वै वेनः, (शांखा ब्रा० 8।5) यह इन्द्र मेघस्थ विद्युत् (कान्ति) अथवा स्वयं वायु है—

प्राणभूतस्तु भूतेषु अहेनत्येषु तिष्ठति। (बृहद्० 2।52)

"प्राणियों (भूतों) का प्राण (वायु) होने के कारण यह गतिशील वायु 'वेन' है।

इसके अनन्तर यास्काचार्य ने कुछ साधारण एवं प्रसिद्ध देवों का परिगणन एवं व्याख्यान किया है, यथा असुनीति, ऋत, इन्दु, प्रजापति, अहि, अहिर्बुध्न्य, सुपर्ण और पुरूरवा। इनमें प्रजापति को छोड़कर अन्य किसी को वेदोत्तरसाहित्य में महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ।

असुनीति—प्राणी के मृत्यु के समय उसके प्राणों को ले जाने के कारण वायु के एक रूप को असुनीति कहा गया है—

यदन्तकाले भूतानाम् एक एव नयत्यसून् (बृहद्० 2।54)

ऋत—इसकी पूर्वपृष्ठों पर व्याख्या की जा चुकी है, यह उदक का नाम है।

इन्दु—यह √इन्धी दीप्तौ या √उन्दी क्लेदने के अर्थ से बना है, यह इन्द्र (वायु) या सोम का नाम है। वेन, असुनीति, ऋत और इन्दु-देवता केवल सूक्तभाक् देवता हैं इनको हविः नहीं दी जाती।

अहि—यह मेघ या विद्युत् का नाम है, इसको वृत्र भी कहा जाता है।

अहिर्बुध्न्य—यास्क ने लिखा है—'योऽहिः स बुध्न्यो बुध्नमन्तरिक्षंतन्निवासात्', (नि० 10।44)—'जो अहि है वही अहिर्बुध्न्य है, बुध्न' कहते हैं आकाशतल या अन्तरिक्ष को। उसका निवासी मेघ हुआ अहिर्बुध्न्य।

सुपर्ण—इतिहास में कश्यपपुत्र वैनेतय गरुड़ को सुपर्ण या गरुत्मान् कहा जाता है, यद्यपि वेदमन्त्रों में सुपर्ण का यही एकमात्र अर्थ नहीं है। सुपर्ण—सूर्य, अग्नि, वायु, रश्मि आदि का नाम है। यास्क ने लिखा है—'सुपर्ण सुपतनाः (आदित्यरश्मयः) यह सूर्यकिरण आदि का नाम है। निम्न मन्त्र में सुपर्ण सूर्य का नाम है—

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः।

(ऋ० 1।35।7)

'इन्द्र मित्र' वरुणमग्निमाहु; प्रसिद्ध मन्त्र में गरुत्मान् दिव्य सुपर्ण को अग्नि

कहा है। निम्न मन्त्र में सुपर्ण मेघ या वायु का नाम है, परन्तु इसमें भी वैनतेय गरुड़ और विनता माता के आख्यान का स्पष्ट आभास मिलता है—(ऋ० 10।144।4)।

> एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
> तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम् ॥

इसकी व्याख्या करते हुये यास्क ने लिखा है—'ऋग्वेदे ष्टार्थस्य प्रीतिर्भव-त्याख्यानसंयुक्ता' (नि० 10।4।45)—यद्यपि मन्त्र में माध्यमिका वाक् (मेघवाणी) का वर्णन है तथापि मन्त्र पढ़ते ही गरुड़ और विनता का स्मरण हो जाता है।

प्रजापति—माध्यमिक देवगणों में वायु या मेघ (इन्द्र) को प्रजापालक होने से प्रजापति कहा गया है। मन्त्रों में यह गौण देव है।

पुरूरवा—बहुत शब्दकारी मेघ को ही पुरूरवा कहा गया है, इसकी पत्नी उर्वशी (विद्युत्) है, ऋषियों को आख्यानप्रिय होने के कारण वेदमन्त्रों में इतिहास और गाथा का मिश्रण भी है।

सोम और श्येन—वेद और वैदिकयज्ञों में सोमतत्व और सोमक्रतुओं का अद्वितीय स्थान था। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल सोम के लिए समर्पित है। सोमक्रतुओं में ही षोडश ऋत्विक् होते थे, इनके एकाह, अहीन और सत्ररूप में अनेकशत भेदविभेद थे। वेद में सोमतत्व क्या था और श्येन का इसके साथ क्या सम्बन्ध था इस विषय की यहाँ संक्षेप में विवेचना करते हैं।

सोम को अमृत माना गया, जिसे पीकर मानव अमृत हो जाता है—'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋ० 8।48।3) सोम पहिले दिव्यलोक में था, सर्वप्रथम गन्धर्व विश्वावसु ने इसको वहाँ से चुराया तब देवों को इसका ज्ञान हुआ—'दिवि वै सोम आसीत्...गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्ते देवा विदुः।' (श. ब्र. 3।2।3।2)।

सोम कौनसा पदार्थ था, यह अब एक विवाद का विषय बन गया है।

आयुर्वेदशास्त्र में समस्त बलकारिणी औषधियों की संज्ञा सोम प्रतीत होती है। ऋग्वेद में सोम को मूजवान् पर्वत पर उत्पन्न भक्ष बताया गया है—'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः (ऋ० 10।34।1) । श्री सत्यव्रत सामाश्रमी के मत से मूजवान् पर्वत कैलाशगिरि के पश्चिम में स्थित था ।[1] वाजसनेयिसंहिता (3-61) में रुद्रनिवास से परे मूजवान् पर्वत बताया गया है—'एतत्ते रुद्रावसम् तेन परो मूजवतोऽतीहि' सुश्रुतसंहिता (29-26-30) में हिमवान्, सह्यपर्वत, महेन्द्र पर्वत, मलयगिरि, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह्य, पारियात्र आदि पर सोम का प्रभव बताया गया है और उसके भेद हैं—अंशुमान्, मुञ्जवान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ; दूर्वासोम, कनीयान्, श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतावान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयंप्रभ, महासोम, और गायत्र आदि ।

ऋग्वेद में सोम को एक औषधि माना है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम् । (ऋ० 10-85-3)

चन्द्रमा को भी सोम कहते हैं, क्योंकि वह औषधियों में सोम का वर्धन करता है । यास्क ने लिखा है 'सोमो रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा ।— और मन्त्र उद्धृत किया है—

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ (ऋ० 10-85-5)

यज्ञों (सोमक्रतुओं) में ऋत्विग्गण ग्रावा से सोम का रस निकालते थे और अग्नि को होम करने के अनन्तर उसका पान करते थे ।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोमधारया ।
इन्द्राय पातवे सुत ॥ (ऋ० 9।1।1)

गोदुग्धादि में मिश्रण करके इसका पान किया जाता था—

'सं ते पयांसि समु यन्तु वाजा ।' (ऋ० 1।91।18)

वेद में सोम का महात्म्य इतना बढ़ गया कि वह परमात्मा का प्रतीक

---

(1) ऐतरेय, पृष्ठ 35 ।
(2) सुश्रुतसंहिता (29।2-7)

बन गया। सृष्टि रचना के मूल उपादन दो ही माने गये—'अग्नीषोमात्मकम् जगत्।' सोम, बुद्धि, द्युलोक, पृथिवी, अग्नि, सूर्य, इन्द्र और विष्णु का जनक कहा गया है—

> सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
> जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥
>
> (ऋ० 9।96।5)

सोम केवल शीतलता या अग्नि का अभाव नहीं है, सोम सृष्टि का मूलतत्व है, जिसके बिना अग्नि या सूर्य प्रज्वलित नहीं हो सकता, जिस प्रकार पानी से बिजली से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सोम से सूर्य जलता है।

सोम आदित्य का भी नाम है, वह आत्मा और परमात्मा की भी संज्ञा थी—'सोमः पवित्रमत्येति रेभन्।' (ऋ० 9।96।6)

इस मन्त्र में यह सूर्य की संज्ञा है।

निम्न मन्त्र में वह आत्मा का अभिधान है—

> 'सोमं यन्ति मतयो वावशानाः। (ऋ० 9।97।34)

सोम को 'इन्द्र' भी कहते थे—

> बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः। (ऋ० 9।97।40)

निम्न मन्त्र में सोम को सृष्टि का मूलतत्व बताया गया है—

> महत्तत् सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत देवान्।
> अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥
>
> (ऋ० 9।97।41)

'महान् सोम ने महान आपों के गर्भ (सृष्टि) धारण कराया। जिससे देव द्युलोकादि उत्पन्न हुये। अग्निरूप पवमान इन्द्र में ओज भरा, और सूर्य में प्रकाश उत्पन्न किया।'

इसीलिये सोम को अमृत कहा गया है, क्योंकि आप्यायन (वर्धन) से यह जगत् सतत स्थित है—

'जनयन् प्रजा भुवनस्य राजा ।' (ऋ० 9।97।40)

सोम को 'राजा' या 'सोमराजा' भी कहते थे ।

चन्द्रमा इस सोम का एक प्रतीकात्मक अंशमात्र है ।

श्येन—सोम के साथ श्येन का घनिष्ठसम्बन्ध वेदमन्त्रों में दृष्टिगोचर होता है । आधिदैविक दृष्टि से श्येन (श्येनः शंसनीयं गच्छति नि० 2-24) सूर्य या इन्द्र (अग्नि) का नाम है । आध्यात्मिक दृष्टि से यह आत्मा (जीवात्मा) का नाम है ।

सामान्यतः श्येन बाज या गरुड़ को भी कहते है । इतिहासपुराणों में गरुड़ वैनतेय द्वारा सोमाहरण की कथा प्रसिद्ध है । वहाँ उल्लिखित है कि वैनतेय गरुड़ ने देवलोक से नागों के लिए सोमहरण किया, इसी प्रकार वेद मन्त्रों में बहुधा उल्लेख है कि श्येनपक्षी सोम को लाता है । 'धर्मयुग' नामक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र[1] में श्रीमारुति चितमपली ने लिखा है 'अमरीकी शोध कर्त्ता आर० गार्डनवासन ने सिद्ध किया है कि सोम 'फ्लाइड अगरिक' (अमानिता मस्कारिया) नाम से जानने वाला कवक है ।······यह वनस्पति साइबेरिया और नार्वे से ईशान्य रूस तक के गीले पर्वतशिखरों पर मिलती है तथा ऋग्वेद में श्येनपक्षी का कई स्थानों पर उल्लेख है । सोम के खेतों की रक्षा और पर्वतों से सोम चुनकर लाने का अद्भुत काम इन श्येनों से कराया जाता था । अतः प्राचीन भारत (कलिपूर्वकाल) में श्येनपक्षिपालन भी विशाल पैमाने पर किया जाता होगा जिससे ये पक्षिगण पर्वतों से चुनकर विशालमात्रा में सोम लाते थे । ऋग्वेद के निम्नमन्त्रों से यह निश्चयपूर्वक आभास मिलता है कि है कि श्येन सुदूरक्षेत्रों से विशालमात्रा में सोम लाते थे—

आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम् ।

(ऋ० 4-26-7)

'श्येन पक्षी सहस्र अयुत (लाखों) सव सोम लाये ।'

---

(1) साप्ताहिक धर्मयुग, दिनांक 9-2-75 ।

नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो रजांसि ।

(ऋ० 1-32-14)

'श्येन पक्षी ९९ नदियों और पर्वतों को पार करते हुये निर्भय होकर आये ।

यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेतिपाथः ।

(ऋ० 7-63-5)

देवों ने श्येन के लिए मार्ग बनाया. वे पक्षि उड़ते हुये मार्ग पार कर गये ।

असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनां इव । (ऋ. 6-46-13)

'असमान और कठोर मार्ग में श्येनों के समान' ।

अतः सोमानयन का प्रधानकार्य अतिपुरातनयुग में श्येन पक्षी करते थे। मध्यमस्थानी देवताओं में ही चन्द्रमा की गणना की गई ।

चन्द्रमा के अनन्तर यास्क ने मृत्यु, विश्वानर, धाता और विधाता का वर्णन किया है । मारने के कारण यह 'मृत्यु'नाम है । शतबलाक्षमौद्गल्य के अनुसार मृत को गिराता है इस लिए यह नाम है ।

वायु या इन्द्र ही विश्वानर (आपः) है, इसी को नारा कहते है मन्त्र है— 'उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत् । (ऋ. 7-73-1) 'सविता देव विश्वानर विश्वजन्य अमृत ज्योति पर आश्रित हुआ ।' यह मेघ ही विश्वानर सविता है ।

धाता विधाता भी प्राणधारण वायु या मेघ के विभिन्न रूप हैं ।

माध्यमिक देवों के ये अष्टगण कुछ अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(1) मरुतः (2) रुद्राः (3) ऋभवः (4) अङ्गिरस (5) पितरः (6) अथर्वाणः (7) भृगवः (8) आप्त्याः ।

मरुतः—इतिहास में मरुत इन्द्र के भ्राता और दिति के पुत्र माने गये हैं नैरुक्तिक निर्वचन में मरुतः मध्यस्थानीय देवगणों में प्रथम हैं । ब्राह्मणग्रन्थों और इतिहासपुराणों में इनके 49 गण माने गये हैं—'सप्त सप्त हि मारुता

गणाः ।' (श. ब्रा. 9-3-1-25) ये मरुतः विद्युन्मय वायुओं (मेघों) की संज्ञा है जो वर्षिष्ठ अन्न या जल से, सुमाया जगत् का कल्याण करते हैं—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ।। (ऋ. 1-88.1)

इन मरुतों के दीप्तिमान रथ और ऋष्टि (बर्छी भाले) हैं। यहाँ मरुतों का मानवीकृतरूप स्पष्ट है। वस्तुतः मरुतगण देवराज इन्द्र के सैनिक थे, जो ऐतिहासिक पुरुष भी थे। मरुतों को निम्न मन्त्र में अंगिरा के पुत्र कहा है—

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ।।
(ऋ. 1-31-1)

ये अंगिरापुत्र मरुतः कवि, विद्वान् और दीप्तिमान् थे। प्राकृतिक मरुत (वायुओं) पर भी उपर्युक्त विशेषण घटते हैं। प्राकृतिक मरुत आँधी तूफान वर्षा और बिजली के देवता हैं। ऐतिहासिक मरुतः युद्ध के देवता या इन्द्र के सैनिक थे। यूरोप में आजतक इनकी मार्स (Mars-मंगल) युद्ध देवता के रूप में पूजा की जाती है। यूरोप के देशों में इसके विभिन्नाम प्रचलित थे।

ऐतिहासिक अग्नि या अंगिरा ऋषि देवों (इन्द्रादि) के पुरोहित थे। देवगुरु बृहस्पति आंगिरस प्रसिद्ध देवपुरोहित थे। अग्नि का एक नाम रुद्र था। मरुतों के पिता रुद्र या रुद्राः कहे गये हैं।

रुद्राः—ये भी वायुविशेषों का अभिधान है जो अन्तरिक्षस्थानीय है। गर्जना (रव या शब्द) करने के कारण वर्षा के पूर्व मेघ रुद्रसंज्ञा धारण करते हैं। रुद्राः और मरुतः वायु (मेघ) के पर्यायवाची होने से समानार्थक है। रुद्रों के पुत्र होने से मरुतों को भी रुद्राः कहा जाता है। रुद्र भी वर्षा, आंधी और तूफान के देवता हैं। इनकी संख्या इतिहास में 11 हैं, परन्तु तैत्तिरीयसंहिता में 33 बताई है।

पृथिवी पर रुद्र अग्नि का नाम है, अन्तरिक्ष में यह विद्युन्मय मेघ है। इतिहास में यह पशुपति महादेव का नाम है जो रुद्रों के अधिपति हैं। अतः

रुद्र और मरुत ऐतिहासिक देव भी थे। मन्त्रों में मुख्यत: ये प्राकृतिक देव हैं परन्तु वहाँ भी इनका मानवीकरण या ऐतिहासिकरूप स्पष्ट है।

मध्यमस्थानी देवगण के शेष छ: गण तो निश्चयपूर्वक ऐतिहासिक ऋषि थे—ऋभव:, अङ्गिरस:, अथर्वाण:, भृगव: और आप्त्या:।

ऋभव:—प्रकृति में यह विद्युत्तरङ्ग या सूर्यरश्मि का नाम है—'ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा। ऋतेन भवन्तीति वा', (नि. 11-2-15)

'जो बहुत चमकते है, मेघोदक से चमकते या होते है।'

इतिहास में ऋभुगण अङ्गिरावंशीय सुधन्वा के पुत्र थे जो अपने शिल्पनैपुण्य (Technology) के बल पर देवत्व को प्राप्त हुये—

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तास: सन्तो अमृतत्वमानशु:।
सौधन्वना ऋभव: सूरचक्षस: संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभि:॥

(ऋ. 1-101-4)

मरणधर्मा (मनुष्य) होते हुए शिल्पकला के कारण शीघ्र ही वे सूरचक्षु विद्वान् ऋभुगण अपने कर्मों द्वारा अमृतत्व (देवत्व) को प्राप्त हुये उनके कुछ विशिष्ट कार्यों का उल्लेख निम्न मन्त्रों में है—

'येन हरी मनसा निरतक्षत तेन देवत्वमृभव: समानश।'

(ऋ॰ 3-60-3)

'उन्होंने इन्द्र के लिये दो हरी घोड़ों का निर्माण किया, जिससे उन्हें देवत्व प्राप्त हुआ।'

चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्।
अकर्त चतुर: पुन:।' (ऋ. 1-20-6)

'त्वष्टा के लिए उन्होंने एक चमस के चार चमच बनाये।'

ऋग्वेद-निरुक्त और बृहद्देवता में इनका संक्षिप्त इतिहास मिलता है—

'ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो अच्छेमं यज्ञं रत्नधेयोपयात।'

(ऋ. 4-34-1)

सुधन्वा आङ्गिरस के तीन पुत्र थे—'ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः ।' (नि. 11-2-16) महाभारत उद्योगपर्व और छान्दोग्योपनिषद् से ज्ञात होता है कि सुधन्वा आङ्गिरस इन्द्र और विरोचन के सतीर्थ्य (सहपाठी) थे, अतः ऋभुभ्राता इनसे एक पीढ़ी अनन्तर हुये ।

बृहद्देवता (अध्याय 3183-91) में ऋभुओं का कुछ विस्तृत इतिहास दिया गया है—

सुधन्वन आङ्गिरसस्यासन्पुत्रास्त्रयः पुरा ।
ऋभुर्विभ्वा च वाजश्च शिष्यास्त्वष्टुश्चतेऽभवन् ।।
शिक्षयामास तांस्त्वष्टा त्वाष्ट्रं यत्कर्म किंचन ।
परिनिष्ठितकर्माणो विश्वे देवा उपाह्वयन् ।।
विश्वेषां ते ततश्चक्रुर्वाहनान्यायुधानि तु ।
धेनुं सबर्दुघां चक्रुरमृतं सबरुच्यते ।।
बृहस्पतेरथाश्विभ्यां रथं दिव्यं त्रिबन्धुरम् ।
इन्द्राय च हरी देव प्रहितेनाग्निनापि यत् ।।
एकं चमसमित्युक्ते ज्येष्ठ आहुस्त्रयो दिवि ।
उक्त्वा ततक्षुश्चमसान् यथोक्तं तेन हर्षिताः ।
त्वष्टा च सविता चैव देवदेवः प्रजापतिः ।
सर्वान् समामन्त्र्य अमृतत्वं ददुश्च ते ।।
तृतीयसवने तेषां तैस्तु भागः प्रकल्पितः ।।

'पुरा काल में सुधन्वा आङ्गिरस के तीन पुत्र हुये—ऋभु, विभ्वा और वाज । वे तीनों त्वष्टा के शिष्य हो गये । त्वष्टा ने उनको उन समस्त शिल्पों और विज्ञानों (विशेषतः यान्त्रिककर्म) की शिक्षा दी जिसमें वे पारंगत थे । इन विज्ञानों के विशेषज्ञ देवों ने ऋभुओं को विज्ञानप्रदर्शन को ललकारा । तब ऋभुओं ने विश्वेदेवों के लिए वाहनों और आयुधों का निर्माण किया । उन्होंने सबर्दुघा गाय का निर्माण किया, अमृत को ही बृहस्पति का 'सबर' कहते हैं । ऋभुओं ने अश्विनीकुमारों के लिए त्रिबन्धुर रथ और इन्द्र के लिए दो अश्वों का निर्माण किया । देव प्रेषित अग्नि के माध्यम से भी अपने विज्ञान

का प्रदर्शन किया। जब अग्नि ने कहा कि 'एक चमस को चार कर दो तो इन्होंने 'ज्येष्ठ आह' ऋचा के अनुसार स्वर्ग में एक चमस के चार चमस कर दिये। त्वष्टा (गुरु) सविता और देवदेव प्रजापति ने सब देवों को बुलाकर ऋभुओं को देवत्व या अमरत्व प्रदान किया और सोमक्रतु के तृतीयसवन में देवों के साथ इनको भी यज्ञ भाग मिलने लगा।'

प्राचीनभारत में श्रेष्ठपुरुषों को देवत्व प्रदान करने की परिपाटी अनन्त काल से चली आ रही थी, जो आज भी किसी न किसी रूप में चल रही है।

आङ्गिरस:—ऐतिहासिक अङ्गिरस पृथुवैन्य के समय हुये थे और प्रचेता के पुत्र और दक्ष के भ्राता थे। इन्द्रादि के समय अङ्गिरा का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता। इन्द्र के समकालीन बृहस्पति, सुधन्वा आदि अङ्गिरा के वंशज विद्यमान थे। अग्नि या अङ्गारों को भी अङ्गिरा या अङ्गिरस कहते थे। निम्न मन्त्र में प्राकृतिक और ऐतिहासिक अग्नि (अङ्गिरा) और अङ्गिरसः दोनों का ही वर्णन है—

विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे॥ (ऋ० 10।62।5)

अङ्गिरा, भृगु और अग्नि तीनों भ्राता ऋषि थे और समकालीन तो थे ही।

प्राचीनभारत में वंशप्रवर्तक, पूर्वज या महापुरुष को देवता मानने की प्रवृत्ति थी। इसी कारण अग्नितुल्य या अग्नि के आविष्कारक अङ्गिरा ऋषि मध्यमस्थानी देव माने गये। अङ्गिरा के वंश आङ्गिरस ऋषि देवों के साथी थे अतः वे भी देवता माने जाते थे।

भृगवः और अथर्वाणः—जो परम्परा अङ्गिरा की थी, उसी के अनुरूप देवों के ब्राह्मण (पुरोहित) भार्गव और आथर्वण ऋषिगण भी मध्यमस्थानीय देवगण माने गये।

पितरः—अङ्गिरस, भृगव और आथर्वण एवं अन्य प्रवर (गोत्रप्रवर्तक) वसिष्ठ आदि ऋषि एवं यम के वंशज पितर भी देवता माने गये—

अङ्गिरसो न पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।

(ऋ० 10।14।6)

यास्क ने लिखा है—'माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः । पितर इत्याख्यानम् ।' (नि० 11।2।19) । 'ये अङ्गिरस आदि माध्यमिक देवगण हैं परन्तु इतिहासपुराण (आख्यान) में ये पितर (मनुष्यों के पूर्वज) हैं ।'

पुनः यास्क ने लिखा है—'अथाप्यृषयः स्तूयन्ते ।' (नि० 11।20)

'वेद मन्त्रों में ऋषियों की स्तुति भी की गई है ।'

आप्त्याः—इसकी नैरुक्त व्युत्पत्ति 'आप्लृ' (व्याप्तौ) से हुई है जैसा कि यास्क ने लिखा —'आप्त्या आप्नोतेः ।' (नि० 11।20)

मूल में 'आप्त्याः' भी पितर या ऋषिगण का नाम है, इनका मूलप्रवर्तक 'आप्त' ऋषि था । ये अत्यन्त प्राचीन ऋषि थे, 'आप्त' के सम्भवतः तीन पुत्र थे, जिनमें 'त्रित' प्रधान थे आप्त्यों की स्तुति निम्न मन्त्र में की गई है—

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम् ।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्रसाक्षते प्रतिमानानिभूरि ॥

(ऋ० 10।120।6)

'जो स्तोतव्य बहुरूप, ईश्वरतम, आप्त्यों में आप्तव्य आप्त अपने बल से सप्त दानवों और उनके समान बहुतों का विदारण करते हैं ।'

यहाँ आप्त्य मध्यमस्थानीय मेघगण का ही रूप विशेष है जो आपों (जलों) से पूर्ण उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त है ।

ऋग्वेद में त्रित आप्त्य का ऐतिहासिक उल्लेख इस प्रकार है—

त्रितस्तद्वेदाप्त्यः स जामित्वाय रेभति वित्तं मे अस्य रोदसी ।
त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये ।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तम् ॥

(ऋ० 1।105।9,17)

'त्रित आप्त्य ऋषि ने बन्धुत्व (या भक्ति) के लिए पुकारा पृथिवी और

आकाश को। कूप में पतित त्रित ने अपनी रक्षा के लिए देवों को पुकारा। उसको बृहस्पति ने सुना।' बृहद्देवता (3।132-136) में कुछ अधिक विस्तार से यह इतिहास लिखा है—

> त्रितं गास्त्वनुगच्छन्तं क्रूराः सालावृकीसुताः।
> कूपे प्रक्षिप्य गास्सर्वास्तत एवोपजह्रिरे॥
> स तत्र सुषुवे सोमं मन्त्रविन्मन्त्रवित्तमः।
> देवांश्चावाहयत्सर्वांस्तच्छुश्राव बृहस्पतिः॥

'सालावृकी के पुत्र दैत्यों ने गायों के अनुचर त्रित को कुयें में गिरा दिया और सब गायों को ले गये। मन्त्र वेदों में श्रेष्ठ मन्त्रविद् त्रित ऋषि ने वहाँ (कूप में) सोमसवन किया और सब देवों का आह्वान किया। बृहस्पति ने उसके आह्वान को सुना।'

प्राकृतिक देव आप्त्य मध्यमस्थानीय आप या पानी के देवता मेघ हैं जो वर्षा करते हैं। अन्तरिक्षस्थ सोम (रस=जल) का आप्त्य से विशेष सम्बन्ध भी मन्त्रों में प्रकट है।

पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में अनेकश थ्रित की चर्चा है, आप्त्य को वहाँ 'आथ्व्य' कहा है जो भाषाविकार के कारण है। त्रित का ऋग्वेद (1।158।5) में उल्लिखित त्रैतन दास से कोई सम्बन्ध नहीं है, जिसने दीर्घतमा मामतेय के वध का प्रयत्न किया था परन्तु ऋषि ने स्वयं ही त्रैतन को मार दिया।

महाभारत (शान्तिपर्व 336 अ०) में इन्द्रसखा उपरिचरवसु के यज्ञ में एक, द्वित और त्रित ऋषि सदस्य थे—

> बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह।
> प्रजापतिसुताश्चात्र सदस्याश्चाभवंस्त्रयः।
> एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः। (श्लोक 5,6)

यह वसु राजा कृतयुग में इन्द्र के समकालीन था, न कि शान्तनुपिता प्रतीप का समकालीन उपरिचरवसु (व्यासजी का नाना), अतः त्रित आदि आप्त्य ऋषिगण भी उसी समय हुये।

स्त्रीदेवता

निरुक्त (11।22-50) में 21 स्त्री देवताओं का व्याख्यान है।

वे हैं—(1) अदिति (2) सरमा (3) सरस्वती (4) वाक् (5) अनुमति (6) राका (7) सिनीवाली (8) कुहू (9) यमी (10) उर्वशी (11) पृथिवी (12) इन्द्राणी (13) गौरी (14) गौ (15) धेनु (16) अघ्न्या (17) पथ्या (18) स्वस्ति (19) उषा (20) इला और (21) रोदसी। अनेक वेदशाखाओं में सीता (हल का फाल) की देवता के रूप में स्तुति है, अतः बृहद्देवता (1।129) में सीता और लाक्षा—इन दो देवताओं का और परिगणन है।

अदिति—उपर्युक्त स्त्रीदेवता वेद या निरुक्त में प्रायेण प्राकृतिक शक्तियों के रूप में ही अभिप्रेत हैं, परन्तु इनमें से अधिकांश देवता ऐतिहासिक रूप भी लिये हुये हैं, यथा इतिहास में अदिति प्रजापति कश्यप की पत्नी और विवस्वान् विष्णु इन्द्र आदि द्वादश आदित्यदेवों की माता थी, परन्तु मन्त्रों में अदिति का ऐतिहासिक रूप कम और प्राकृतिक रूप अधिक है, परन्तु जहाँ प्राकृतिक रूप है वहाँ भी ऐतिहासिक छाया विद्यमान है—

> भूर्जज्ञ उत्तानपादो भुव आशा अजायन्त।
> अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाददितिः परि॥ (ऋ० 10।72।4)

'उत्तानपद हिरण्यगर्भ (ब्रह्माण्ड) से पृथ्वी उत्पन्न हुई, भुव (अन्तरिक्ष) से दिशायें उत्पन्न हुईं। दक्ष (सूर्य) अदिति (प्रकृति या पृथिवी) से उत्पन्न हुआ और अदिति (उषा) दक्ष (सूर्य) से उत्पन्न हुई।' जब ऋषि ने यह मंत्र बनाया तब उसके ध्यान में ऐतिहासिक दक्ष और अदिति अवश्य थे। जब यास्क ने 'अदिति दाक्षायणी' (नि० 11।3।16) लिखा तो उसका अभिप्रायः ऐतिहासिक पक्ष की ओर ही था। अन्यत्र भी यास्क ने लिखा है—

'अदितिरदीना देवमाता वा' (नि० 4।32)। अदिति की दाक्षायणी और देवमाता कहने का उपबृंहण इतिहासपुराण से ही होता है इसीलिए कहा है—

> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
> बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

अतः यास्क जैसा निरुक्तसम्प्रदाय का घोर पक्षपाती भी इतिहासपक्ष को भूला नहीं। सर्वप्रथम यास्क ने निरुक्तपक्ष से अदिति को सूर्यपुत्री उषा बताया, पुनः दक्षपुत्री दाक्षायणी कहा, जो ऐतिहासिक पक्ष है। अग्नि को भी अदिति कहा जाता है—'अग्निरपि अदितिरुच्यते।' (नि० 11।23) अदिति अखण्डनीया प्रकृति का नाम भी है, जैसा कि निम्नमन्त्रों का भावार्थ है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः॥
(ऋ० 1।89।10)

देवानां युगे प्रथमे असतः सदजायत।
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव॥ (ऋ० 10।62।4)

यहाँ पर अदिति और दक्ष सांख्यदर्शन के प्रकृति और विकार हैं। इनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रधान (दक्ष) को प्रकृति (अदिति) से पृथक् नहीं किया जा सकता, इसीलिये मन्त्रों में कहा गया है कि दक्ष से अदिति और अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ।

यास्क ने लिखा 'आदित्यो दक्ष इत्याहुः' जब दक्ष आदित्य है तब अग्नि अदिति है। मध्यमस्थानीय देवगण में अदिति वैद्युताग्नि है।

सरमा—यह विद्युत् या मध्यमा वाक् (मेघध्वनि या विद्युद्ध्वनि) है—
'वाग् वै सरमा' (मै० सं० 4।6।4।

सरणशील होने से विद्युद्ध्वनि सरमा कही जाती है।

देवशुनी सरमा और शुनी दोनों का अर्थ है 'गतिवाली' अतः सरमा या शुनी का अर्थ सर्वत्र 'कुतिया' हो यह आवश्यक नहीं है, दूत या दूती भी गतिवती होती है अतः देवशुनी का अर्थ हुआ देवदूती। असुरपणिसरमा-संवाद (ऋ० 10।108) में सरमा और असुर पणियों का यही ऐतिहासिकरूप प्रकट है, उस संवाद की अन्यथा व्याख्या बुद्धिहीनता का परिचायक होगी। आचार्य शौनक ने बृहद्देवता (8।24-26) में विस्तार से इस इतिहास को लिखा है।

सरस्वती—यह नदीरूप और वाग्रूप देवता के रूप में मन्त्रों में बहुधा स्तुत है, इसका व्याख्यान पहिले किया जा चुका है निम्नमन्त्र में यह मध्यम

स्थाना मेघध्वनि जो जलवती होने से सरस्वती कही जाती है। सरस् जल की संज्ञा है। इसकी वाग्देवता के रूप में उत्तरकालीन साहित्य में महती प्रसिद्धि है।

सरस्वतीनदी की भी वेदमन्त्रों में महिमा प्रख्यात है। बुद्धि की देवीरूप में भी इसकी प्रसिद्धि है—

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः।
(ऋ० 1।3।10)

धियो विश्वा विराजति। (ऋ० 1।3।12), उक्त मन्त्रों में धी बुद्धि या प्रज्ञा का नाम है।

वाक्—इस वाक् का एकरूप वेद में सरस्वती देवी के रूपों में प्रतिष्ठित था। वाक् यह वाणी का व्यापक नाम है। वाक् देवों—द्योतनशील या गतिशील (√दिवु द्युति, गति आदि अनेक अर्थों में है) पदार्थों से उत्पन्न होती है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
(ऋ० 8।100।11)

वाक् के अनेक पर्याय वेद में हैं। बहुधा उसकी उपमा धेनु (गाय) से दी है जो दुग्धरस से प्रसन्न करती है, वाग्धेनु के चार पाद (स्तन) हैं—'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि।' (ऋ० 1।164।45) इस का व्याख्यान काठकसंहिता (14।5) में इस प्रकार है—

'सा वाग् दृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि पशुषु तुरीयम्। या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ। या अन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे।'' 'यह वाक् उत्पन्न होते ही चार भागों में विभक्त हुई। तीन चौथाई लोकों और पशुओं में एक चौथाई। जो द्युलोक में वही बृहत्साम और मेघ में है। जो अन्तरिक्ष में है वही वाक् वायु और वामदेव्य साम में, जो पृथिवी में वही अग्नि और रथन्तर साम में है।' शौनक ने लिखा है—

मध्ये सत्यदिति वाक् च भूत्वा चैषा सरस्वती । (बृहद्देवता 2176)

'अन्तरिक्ष में यह अदिति और वाग्रूप यह लोक में सरस्वती है ।'

सूर्यलोक में इस वाक् का नाम सूर्या, गौरी ससर्परी है—

तस्मै ब्राह्मी सारी वा नाम्ना वाचं ससर्परीम् । (बृहद्दे० 4।113)

शौनक के अनुसार यमी इन्द्राणी, सिनीवाली, राका अनुमति कुहू आदि मध्यमा वाक् के ही नाम हैं । परन्तु यास्क ने इनका अन्यथा व्याख्यान किया है जिसका सारांश यह है—

अनुमती और राका—नैरुक्तों के मत में ये मध्यमस्थाना देवपत्नियाँ हैं । याज्ञिकों के मत में पूर्व पौर्णमासी अनुमति है और उत्तरापौर्णमासी (द्वितीय दिन) राका है ।

सिनीवाली और कुहू—नैरुक्तों के मत में ये मध्यमस्थाना देवपत्नी (वाक् या विद्युत्) है, परन्तु याज्ञिकों के मत में पूर्वामावस्या सिनीवाली और उत्तरामावस्या कुहू है ।

इतिहास में अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू नाम से प्रसिद्ध देवताओं की स्त्रियां भी हुई हैं ।

यमी—नैरुक्तपक्ष में यमी रात्रि का नाम है, इतिहास में यह विवस्वान् (सूर्य) की पुत्री और वैवस्वत यम की स्वसा है । इसी के नाम से यमुना नदी प्रसिद्ध हुई । यमयम्युपाख्यान (ऋ० 10।10) में इसका ऐतिहासिकरूप ही अधिक सुसंगत है ।

उर्वशी—जो अर्थ 'पुरूरवा' का है वही अर्थ 'उर्वशी' पद का है । पुरूरवा का अर्थ है बहुत शब्द वाला (मेघ) उरु+वशी (अशी) का भी यही अर्थ है, बहुत शब्द वाली (विद्युत्) । ऋग्वेद (10।95।10) में स्पष्ट ही विद्युत् को उर्वशी कहा है—

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि ।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ।।

उर्वशी का एक व्याख्यान यास्क ने यह भी किया है—'उर्वभ्यश्नुत' जो बहुत व्यापक है या बहुत खाती है—वह विद्युत्-उर्वशी हुई ।

उर्वशी और पुरूरवा का ऐतिहासिकपक्ष भी स्पष्ट और विख्यात है। उर्वशी अप्सरा गन्धर्वलोकवासिनी थी और पुरूरवा इला और बुध के पुत्र थे। ऋग्वेद (10।95) सूक्त में इनका इतिहास संकेतित है अन्यत्र ऋग्वेद (7।33।11) में औवंश वसिष्ठ का उल्लेख है जो मैत्रावरुण और उर्वशी के पुत्र थे—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः ।"

अतः मन्त्रों में नैरुक्त और ऐतिहासिक दोनों रूप विद्यमान हैं।

इसके आगे निरुक्त में पृथ्वी (पृथु होने से ऐसा नाम धारण करती है) देवता का उल्लेख है। इन्द्राणी इन्द्र की पत्नी या विद्युत्शक्ति है। गौरी एक विशिष्ट मध्यमस्थाना देवता है। यह भी शुभ्रवर्णा रोचमाना विद्युत् का नाम है।

गौ अघ्न्या धेनु—ये तीनों पर्यायवाची पद हैं। पृथ्वीलोक में यह गाय पशु है, या पृथिवी है, अन्तरिक्ष में यह वाक् है।

पथ्या और स्वस्ति—पथिन् से पथ्या पद बना है और स्वस्ति शुभाकांक्षा का नाम है। मार्ग में शुभाशीः ही स्वस्ति और पथ्या देवता है।

उषा—यह बहुधा सूर्य की पत्नी कही जाती है जो प्रातःकाल की लालिमा है। यह ज्ञान की देवी के रूप में बहुधा स्तुत है। मध्यमस्थानीयदेवतारूप में यह विद्युत् है।

इला—यह मध्यमस्थाना विद्युत्जलवृष्टि है जिससे अन्न उत्पन्न होता है। इतिहास में इला बुध की पत्नी थी।

रोदसी—यास्क ने लिखा है—'रोदसी रुद्रस्य पत्नी' रुद्र अर्थात् मेघ की पत्नी विद्युत्।

(द्युस्थानीय देवता)

द्युस्थानीय देवों का यह क्रम यास्क ने निरुक्त (द्वादश अध्याय) में रखा है—(1) अश्विनौ (2) उषाः (3) सूर्या (4) वृषाकपायी (5) सरण्यूः (6) त्वष्टा (7) सविता (8) भग (9) सूर्य (10) पूषा (11) विष्णु

(12) विश्वानर (13) वरुण (14) केशी (15) केशिन: (16) वृषाकपि (17) यम (18) अज एकपात् (19) पृथिवी (20) समुद्र (21) दध्यङ् (22) अथर्वा (23) मनु (24) आदित्या: (25) सप्तऋषय: (26) देवा: (27) विश्वेदेवा (28) साध्या: (29) वसव: (30) वाजिन: और (31) देवपत्नय: ।

द्यु या द्युलोक (दिव्यलोक) सूर्य को ही कहते हैं। सूर्य के विभिन्न रूप या अवस्थायें एवं सूर्य से सम्बन्धित दिव्य वस्तुयें ही द्युस्थानीय देवता हैं, यह कथन आगे के विवरण से स्पष्ट होगा।

अश्विनौ—इनका नाम वेद में ही नासत्यौ या दस्रौ भी प्रसिद्ध है। इतिहास में दो अश्विनीकुमार, सूर्य के पुत्र और देवों के वैद्य हैं; सरण्यू इनकी माता का नाम था। परन्तु मन्त्रों में अश्विवों का केवल ऐतिहासिकरूप ही नहीं है, ऐतिहासिकरूप के साथ अन्य अनेक पक्ष हैं। यास्काचार्य ने निरुक्त में अनेक प्राचीनमत दिये हैं, इनमें बतलाया गया है कि अश्विनौ कौन हैं—

तत्कावश्विनौ ?

द्यावापृथिव्यावित्येके,

अहोरात्रावित्येके,

सूर्यचन्द्रमसावित्येके,

राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिका: (निरुक्त 12।1।1) ।

"ये अश्विनौ कौन है, एक मत में द्यावापृथिवी अश्विनौ है। एक मत अहोरात्र (दिनरात) अश्विनौ हैं, एक मत में सूर्य और चन्द्रमा अश्विनौ हैं। इतिहास पक्ष में अश्वी दो पुण्यात्मा राजा (या राजकुमार) हैं।" अत: यास्क के समय नैरुक्तों को अश्विद्वय का स्वरूप अस्पष्ट सा था। नासत्य के विषय में यास्क के और्णनाभ का मत दिया है—'नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णनाभ: सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रयण: (नि० 6।3।13) नासत्य अश्विनौ हैं। सत्य ही नासत्य (न+असत्य) हैं, यह और्णनाभ का मत है, सत्य के प्रणेता नासत्य हैं, यह आग्रयण का मत है।

द्यावापृथिवी का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य के आसपास का लोक ही द्यावा है और पृथिवी भूमि या किसी भी लोक (ग्रहादि) का नाम हो सकता है। यह सबसे प्रमुख और प्राचीनतम मत था, जैसा कि शतपथब्राह्मण में अनेकत्र उल्लिखित है—

तौ यौ प्रत्यक्षं दैवतमश्विनाविमे एव ते
द्यावापृथिव्यौ (श० ब्रा० 7।1।5।16)

इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ। इमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम्।
(श० ब्रा० 4।1।5।16)

ये द्यावा और पृथिवी प्रत्यक्ष देवता हैं, क्योंकि ये समस्त संसार को व्याप्त किये हुये हैं ज्योति से और पृथिवी अन्न (भोजन) से सबको व्याप्त करती है।

इसी प्रकार अहोरात्र सबको व्याप्त करने कारण अश्विनौ हैं। इसी प्रकार व्याप्त करने के कारण सूर्य और चन्द्रमा अश्विनौ हैं जैसा कि शौनक ने लिखा है—

अश्नुवाते हि तौ लोकाञ्ज्योतिषा च रसेन च।

(बृहद्दे० 7।127)

सूर्य ज्योति (प्रकाश) से और चन्द्रमा रस (या सोम) से संसार को व्याप्त करते हैं अतः वे अश्विनी हैं, अत: ये गतिशील (√अशुगतौ) होने से अश्विनौ हैं।

इन अश्वियों का समय अर्धरात्र के अनन्तर है—'तयोःकाल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्' (नि० 12।1)

इन युगलदेवों में एक प्रकाशरूप है तो द्वितीय अन्धकाररूप जिन्हें क्रमशः दिन और रात भी कह सकते हैं। यास्क ने किसी लुप्त शाखा का मन्त्र उद्धृत किया है—

वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव।
कदेदमश्विना युवमभि देवाँ अगच्छतम्॥

"तुम दोनों काले मेघों के समान रात्रियों (या वसाति जनपद) में विचरते हो। तुम दोनों अश्विनौ। कब देवों के पास आते हो।" पुनः एक अर्धर्चा में रात्रि (वसाति) का पुत्र वासात्य और दूसरा उषा का पुत्र है—

"वासात्यो अन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्यः।"

अतः अश्विनौ दिन रात का नाम भी है। अर्धरात्रि के पश्चात् और उष:काल से पूर्व तक अश्विनौ का समय होता है, उसी समय शीत या सोम का बाहुल्य होता है मन्त्र में इसका संकेत है—

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम्।
अस्य सोमस्य पीतये।" (ऋ० 1।22।1)।

यास्क ने अश्विनौ के ऐतिहासिकरूप का उल्लेख किया है कि ये दोनों अश्विनौ (अश्विनीकुमार) पुण्यात्मा राजा या राजकुमार थे। वैदिकग्रन्थों और इतिहास पुराणों में इनका इतिहास बहुधा कथित है, इनकी जन्मकथा बृहद्देवता में इस प्रकार वर्णित है—

अभवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिराः सह।
स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते॥
स विज्ञाय स्वपत्नान्तां सरण्यूमश्वरूपिणीम्।
त्वाष्ट्रीं प्रति जगामाशु वाजी भूत्वा सलक्षणः॥
आघ्रातमात्राच्छुक्रात्तु कुमारौ संबभूवतुः।
नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ स्तुतावश्विनाविति॥

इन अश्विनीकुमारों में एक का नाम नासत्य और दूसरे का नाम दस्र था। यास्क ने भी इस इतिहास का वर्णन किया है—'त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव, स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते। सवर्णायां मनुः।" (नि० 12।1।10)।

निरुक्त और बृहद्देवता में उल्लिखित इतिहास समान है, जिनका तात्पर्य है कि अश्विनीकुमार अश्वी (भागनेवाली मानुषी) सरण्यू और अश्व=विवस्वान् के पुत्र थे।

ऐतिहासिक अश्विनीकुमारों ने जो महान् ऐतिहासिक कर्म किये, उनका ऋग्वेद के बीसियों सूक्तों में विस्तार से उल्लेख है, यथा उन्होंने वृद्ध च्यवन ऋषि को पुनः युवा बना दिया, शर्याति मानव के यज्ञ में। समुद्र में तुग्र के लिए शतारित्रा नाव का निर्माण किया। वचस्यु को प्राणदान किया, भुज्यु को समुद्र में डूबने से बचाया। इत्यादि।

अश्विनीकुमारों के त्रिवन्धुर त्रिलोकगामी रथ का निर्माण ऋभुभ्राताओं ने किया। अश्विनीकुमारों को सोमरस और मधु से विशेष अनुराग था। उन्होंने चर्म की 100 थैलियों में मधु का संचय किया। वे देवों के भिषक् (वैद्य) थे। वे आयुर्वेद के प्रमुख प्रवर्तक थे, उन्होंने ही इन्द्र को आयुर्विद्या सिखाई।

ऋग्वेद के 50 सूक्तों में नासत्यों की स्तुति है। इन्द्र, अग्नि और सोम के पश्चात् सर्वाधिक सूक्त अश्विनी के हैं। यज्ञादि में इनका आह्वान साथ-साथ होता है। इनका रथ, मार्ग आदि सब कुछ हिरण्मय है। ये हिरण्यवर्तनी मार्ग से लोकों की यात्रा करते हैं।

उषा—माध्यमिक देवगणों में उषा की व्युत्पत्ति √ उच्छ (प्रकाश करना) से और द्युस्थानीय उषा की उत्पत्ति — वश (चमकने) से है। यह प्रातःकालीन सूर्य ज्योति का नाम है। ऋग्वेद के 20 सूक्तों में उषा की स्तुति गाई गई है। उषासूक्तों में काव्य का सर्वाधिक उन्मेष हुआ है। ऋषि के हृदय में उषा का स्तवन करते समय प्रकृति की सम्पूर्ण सुषमा पुष्पित एवं उन्मेषित हो उठी है। उषा प्रकाश और सौन्दर्य की देवी है। वह अर्जुनी, श्वेता, वाजिनीवती नर्तकी के समान सूर्योदय से पूर्व आकाश पर छा जाती है।

ऋग्वेद में उषा को कहीं सूर्य की पत्नी, कहीं रात्रि की भगिनी बताया गया है। वही मघोनी (धनदात्री) एवं बोधयित्री है। उससे ऋषि पुत्र की कामना करते हैं—

> उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति।
> येन तोकं तनयं च धामहे॥ (ऋ० 1-92-13)

उषा ज्ञान (केतु) या प्रकाश की देवी है।

सूर्या—उषा का ही एक रूप सूर्या है। सूर्य की शुभ्रवर्ण किरणें ही सूर्या है। यास्क के अनुसार सूर्योदय के समय अभिसृष्टकालतमा उषा ही सूर्या है। यह सूर्य की पत्नी है। यह सूर्य की पुत्री भी कही गई है। 'सविता सूर्यां प्रायच्छत सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा इति च ब्राह्मणम् (नि० 12-6) 'सविता ने प्रजापति सोम राजा को सूर्या दी। सूर्याविवाहसूक्त (ऋ० 10-85) इसी सूर्या को समर्पित है।

वृषाकपायी—यह भी सूर्य की पत्नी कही गई है—

वृषाकपायी सूर्योषाः सूर्यस्यैव पत्नयः (बृहद्देवता 2।8) शौनक ने सूर्यास्त के समय सूर्यप्रकाश (पीले प्रकाशवाला सूर्य वृषाकपि) वृषाकपायी कहा है (बृहद्देवता 2-10)

सरण्यूः—यह सूर्य का सरणशील सायंकालीन प्रकाश है, जो गूढ (गुप्त) रहता है। इतिहास में सरण्यू विवस्वान् की विवाहिता पत्नी थी, जो त्वष्टा की पुत्री एवं विश्वरूप त्वाष्ट्र की भगिनी थी अश्विनौ के प्रसङ्ग में इतिहास पूर्वपृष्ठों पर लिखा जा चुका है ऋग्वेद (10-16-2) के इस मन्त्र में सरण्यू, सवर्ण, विवस्वान्, यम, यमी और अश्विनीकुमारों का स्पष्टतः ऐतिहासिक उल्लेख है—

> अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
> उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥

'अमृता सरण्यू को मनुष्यों से छिपाया, सवर्णा को विवस्वान् के लिये दे दिया। दो मिथुनों (यम-यमी) को छोड़कर सरण्यू ने अश्विनौ को पैदा किया।'

त्वष्टा—सूर्य की दीप्ति ही दिव्य त्वष्टा है। इसकी एक व्युत्पत्ति दीप्त्यर्थक है—'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः' (नि० 8-13)

शौनक ने लिखा है—

> यः सहस्रतमो रश्मी रवेश्चन्द्रमुपाश्रितः।
> सोऽपि त्वष्टारमेवाग्नि परं चेह च यन्मधु ॥ (बृहद्दे० 3-16)

सूर्य की त्वष्टा किरण से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है, उसी से चन्द्रमा में सोम उत्पन्न होता है। त्वष्टा है 'रूपकर्त्ता' है (त्वष्टा हि रूपाणि करोति तै० स० 2।6।2।1)।

ऐतिहासिक त्वष्टा का वर्णन भी निम्न मन्त्र में है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥
(ऋ० 10।16।1)

'त्वष्टा ने पुत्री (सरण्यू) के लिए विवाह में दहेज दिया, समस्त पदार्थ उसको सम्यक् प्राप्त थे। विवाह के समय यम की माता और विवस्वान् की सरण्यू छिप गई।'

सविता—'सविता सर्वस्य प्रसविता' सबका उत्पादक द्युस्थानीय सूर्यदेव ही है। मध्यमस्थानीय सविता के प्रसङ्ग में लिखा चुका है कि यह विश्व की नियामक और उत्पादक शक्ति का नाम है। सूर्योदय के पूर्व के समय उत्पन्न (दृश्यमान) सूर्य सविता है, यह उषा के पश्चात् सवितृरूप धारण करता है—

विनाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ।
(ऋ० 5।81।2)

'वरणीय सविता उषा का अनुगमन करता हुआ आकाश में दिखलाई पड़ता है।'

भग—जब सूर्य की भक्ति (पूजा) की जाती है, वह प्रातःकालीन भजनीय देव सूर्य ही भग है। ऐतिहासिक भग द्वादश अदितिपुत्रों में एक थे—ऋषि इतिहास को भूलता नहीं है—

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।

सूर्य ऊपर बिना उठे नहीं दिखलाई पड़ता अतः (ऋ० 7।41।2) यास्क ने लिखा है 'अन्धो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते' (नि० 12।8)

सूर्य—√ गतौ या षू प्रेरणे से सूर्य पद बनता है। प्रातःकालीन दृश्यमान प्रकाशपुञ्ज गोलक जो सरणशील होता है, उसे सूर्य कहते हैं। इसी सूर्य को ऋषि ने जातवेदाः संज्ञा कही है—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ।
(ऋ० 1।50।1)

'सब प्राणियों के दर्शनार्थ किरणों जगद् ज्ञापक प्रकाशवान् सूर्य को वहन करती है।' इसी सूर्य के विषय में मन्त्र है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
(ऋ० 1।115।1)

'देवों (किरणों) का दर्शनीय समूह निकला, जो मित्र-वरुण, और अग्नि का चक्षुः है उसने द्यावा पृथिवी और अन्तरिक्ष को प्रकाश से भर दिया। वह सूर्य जङ्गम और स्थावर की आत्मा है।'

पूषा—रश्मियों द्वारा पुष्ट (तप्त) सूर्य ही पूषा है—'यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति (निरुक्त), इस समय सूर्य के दो रूप होते हैं—शुक्र (दीप्तिमान्) और यजनीय (दर्शनयोग्य-सौम्यरूप)।

इतिहास में पूषा अदिति का पुत्र था।

विष्णु—सूर्य का तप्त रूप मध्य दिन की ओर अग्रसर ही विष्णु है, जब वह समस्त संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं—

विष्णतोर्विशतेर्वा स्याद् वे वेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः।
विष्णुर्निरुच्येत सूर्यः सर्वः सर्वान्तरश्च यः॥
(बृहद्० 2।69)

'विष्—व्याप्तमान् अथवा विश् (प्रविश्यमान्) और वेविष (आवृत करना) से विष्णु पद बना है अतः सूर्य ही विष्णु कहा जाता है, जो सब कुछ है और सर्वान्तर है। सब में व्याप्त है।

यास्क ने विष्णु के 'शिपिविष्ट' नाम की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'शिपि किरणों को कहते है, उनसे आविष्ट या आवेष्टित सूर्य ही विष्णु है।'

विष्णु को 'त्रिविक्रम' कहते हैं, क्योंकि वह अपने तीन विक्रमों (प्रक्रमों-पदों) से तीन लोकों माप लेता है, जैसा कि मन्त्र में कहा है—

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। (ऋ० 1।22।17)

विष्णु को मन्त्रों में उरुगाय और उरुक्रम भी कहा गया है, विष्णु परमपद का स्वामी है। इतिहासपुराणों में विष्णु का वामनावतार प्रसिद्ध है, उसका आभास वेद मन्त्रों में भी है।

ऐतिहासिक विष्णु इन्द्र के अनुज (उपेन्द्र) थे। वृत्रवध के समय विष्णु ने इन्द्र की महती सहायता की थी।

विश्वानर—यह सूर्य का ही नाम है, यह स्वकिरणों (नरों) से विश्व को प्राप्त करता है अथवा विश्व (सौरमण्डल) का नेता है, अतः विश्वानर है।

वरुण—सूर्य रश्मियों से जगत् को आवृत कर लेता है अतः यह मध्यम स्थानी के साथ द्युस्थानीय देव भी है।

केशी—केशाः कहते हैं रश्मियों को, तद्वान् सूर्य ही केशी है, (इसी को उत्तरकाल में केशव कहा गया)—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ (ऋ० 10।136।1)

केशी अग्नि, जल और द्यावा पृथिवी को धारण करता है, केशी विश्व को देखता है, केशी ही ज्योतिः (सूर्य) है।'

केशिनः—पार्थिव अग्नि और विद्युत् ही उत्तरज्योतिष केशिनी है अथवा सूर्यकिरणों ही केशिनः है। वेद में पार्थिव, मध्यम और दिव्य अग्नियों को केशिनः कहा है—'त्रयः केशिनः (ऋ० 1।164।44)

वृषाकपि—सायंकालीन कपिलकिरणयुक्त सूर्य को वृषाकपि कहते हैं।

इस पद के अनेक निर्वचन किये जा सकते हैं, परन्तु यास्क ने 'वृषाकम्पन' (वर्षा से कँपा देता है) यही एक निर्वचन किया है—'यद् रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः, (नि० 12।27)। शौनक ने लिखा है

वृषैव कपिलो भूत्वा यन्नाकमधिरोहति वृषाकपिरसौ तेन''' ॥
रश्मिभिः कम्पयन्नेति वृषा वर्षिष्ठ एव सः॥ (बृहद्दे० 2।67)

वर्षा का मूल कारण भी सूर्य है अतः यह वृषाकपि है।

यम—द्युस्थानीय देवों में यम प्रमुख है, यह वायु, अग्नि और सूर्य की संज्ञा है। ऐतिहासिक दृष्टि से यम विवस्वान् के पुत्र, पितरों के पूर्वज और पितृलोक के शासक थे। इनका हर प्रकार से सूर्य से सम्बन्ध था। यह समय या काल का नियामक है। द्युस्थानीय देवों में यम सूर्य का ही नाम है।

अज एकपात्—यह निरन्तर गतिशील सूर्य की संज्ञा है जो मानो हंस के समान आकाशरूपी समुद्र में एक पाद (पैर) से खड़ा है, अथर्ववेद का मन्त्र है—

> एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् । यदङ्ग स ।
> तमुत्खिदेन्नेवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन
> (अथर्व० 11।4।21)

'यह हंस अपने एक पैर को नहीं उठाता है. यदि वह उसे उठावे तो न आज (वर्तमान) हो न श्व (कल=भविष्य) हो न प्रलय हो।' छान्दोग्योपनिषद् (3।18।2) में ब्रह्म के चार पाद कथित हैं—'तदेत च्चतुष्पाद्ब्रह्म अग्निः पादो वायुः पादः आदित्य पादो दिशः पादः।'

पृथिवी—यह व्याख्यात है, द्युस्थानीय देवों में पृथिवी ऊर्ध्वलोको या भूमियों से अभिप्रायः है—

> यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः ।
> (ऋ० 1-108-10)

अतः भूमियाँ या पृथिवी तीनों लोकों में हैं। और भी द्रष्टव्य है—

> 'यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः । (ऋ० 8।60।5)

समुद्र—इसकी व्याख्या पहिले की जा चुकी है। अनन्त द्युलोक या आकाश ही समुद्र है। इस महान् समुद्र में सूर्य डूब जाता है—

> महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे । (ऋ० 9-73-3)

इसके आगे निरुक्त में दध्यङ् (दधीचि) आथर्वण, अथर्वा, और मनु—दिव्य स्तोता या ऋषियों के नाम हैं—

> यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत । (ऋ० 1-80-16)

आदित्य—द्युस्थानीय देवगणों में आदित्य प्रमुख है, इनमें से सूर्य के पर्याय वरुण, पूषन्, विष्णु आदि की पूर्व व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ पर गण (आदित्य गण-द्वादश देवता) अभिप्रेत हैं।

सप्त ऋषयः—द्युस्थानीय सप्तऋषि सूर्य की सात किरणों हैं अथवा सप्तर्षि नक्षत्र भी द्युस्थानीय हैं। शरीर में मनः सहित चक्षुरादिक सात इन्द्रियाँ सप्तर्षि हैं—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। (यजुर्वेद 34-55)

इतिहास में—वसिष्ठ, विश्वामित्र, कश्यप, गौतम, भरद्वाज, इत्यादि सप्तर्षि प्रसिद्ध ही हैं।

देवाः—द्युस्थानीय देवों में सूर्य किरणें ही देवाः हैं।

विश्वेदेवाः—आदित्य, रुद्र, वसु, मरुत आदि सब मिलकर विश्वेदेवाः कहलाते है, इनका व्याख्यान पूर्वपृष्ठों पर है।

साध्यगन—एक मत में ये द्युस्थान देवगण (आकाशीय किरणें) हैं। इतिहास में ये पूर्वदेव या सिद्ध हैं (नि० 12।40)।

वसवः—द्युलोक में बसने के कारण सूर्य-नक्षत्रों की किरणों वसु हैं। पृथिवी अग्नि आदि आठ वसु प्रसिद्ध हैं, इतिहास के वसु अन्य है।

देवपत्न्यः—इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी, वरुणानी-प्राकृतिक और ऐतिहासिक देवों की पत्नियाँ देवपत्नी हैं।

परिशिष्ट

(भूयोविद्य यास्काचार्य)

महर्षि यास्क भूयोविद्य अर्थात् बहुशास्त्रवेत्ता थे, ऐसे ही विद्वान् को 'सर्वशास्त्रविशारद' कहा जाता था।[1] पाश्चात्य लेखकों कीथ, मैक्समूलर पार्जीटर, विण्टरनित्स आदि ने संस्कृतशास्त्रों का प्रायः एकांकी या एकदेशीय ज्ञान ही प्राप्त किया, जिससे उनको अज्ञान, संशय (भ्रम) और मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति हुई। प्राचीन भारत में भूयोविद्य ही प्रशस्य माना गया है जैसा कि स्वयं यास्क ने लिखा है—'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।[2] कोई व्यक्ति एक शास्त्र या एक विज्ञान को पढ़कर ही यथार्थ ज्ञानी नहीं हो सकता, वह शास्त्र के निर्णय को नहीं जान सकता,[3] यथा कीथ ने केवल वैदिकग्रन्थों का अध्ययन किया था, उसने इतिहासपुराणों के प्रामाण्य की जानबूझ कर (षड्यन्त्र के कारण) उपेक्षा की और पार्जीटर ने केवल इतिहास पुराणों का अध्ययन किया, वह वैदिकवाङ्मय से प्रायः अनभिज्ञ था, अतः इन लोगों ने अनेक भूलें कीं।

---

1. तुलनीय नैमिषारण्ये कुलपतिः शौनकस्तु महामुनिः। सौतिं पप्रच्छ धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः। (महा० 1-1-4), यास्क के समान शौनक भी भूयोविद्य एवं सर्वशास्त्र विशारद थे।
2- नि० (1।16), 3. एकं शास्त्रमधीयानो न याति शास्त्रनिर्णयम्। (सुश्रुत संहिता), प्राचीन राजा शास्त्रनिर्णयार्थ बहुशास्त्रवेत्ता को नियुक्त करते थे····एकं शास्त्रमधीते यो न विद्यात् कार्यनिश्चयम्।

   तस्माद् बह्वागमः कार्यो विवादेषूत्तमो नृपैः॥

   (अपरार्कटीका, पृ० 222), आधुनिक इतिहासकारों की अनेक भूलों का कारण प्रायः बहुशास्त्रविद् न होना ही है।

आचार्य यास्क का निरुक्त मुख्यतः भाषाशास्त्र का ग्रन्थ है, परन्तु उसके अध्ययन से सिद्ध होता है कि यास्काचार्य बहुश्रुत, सर्वशास्त्र-विशारद भूयोविद्य एवं महान् विद्वान् थे। निरुक्तशास्त्र से यास्काचार्य के प्रमुखतः इन रूपों का ज्ञान होता है—भाषावैज्ञानिक, वैयाकरण, याज्ञिक, अलंकारशास्त्री, इतिहास विद् और दार्शनिक। यास्क के इन षड्विधरूपों का यहाँ संक्षेप में परिचय लिखते हैं।

भाषावैज्ञानिक यास्क

भाषा की उत्पत्ति और दैवीवाक् सिद्धान्त—यास्काचार्य दैवीवाक् सिद्धान्त को मानते थे, उनके अनुसार अनुसार परमात्मा या देवों (दिव्यपदार्थों) के आकाशीय यज्ञ से वाक् की उत्पत्ति हुई—'तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्' (नि० 1-2) वेदवाक् या देववाक् के समान ही लौकिक भाषा के शब्द हैं। वैदिकमन्त्रों में जिन शब्दों (पद चतुष्टय-नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) का प्रयोग है वे ही शब्द लोक में प्रयुक्त होते हैं। अतः यास्क प्रसिद्ध वैदिक सिद्धान्त को मानते थे कि वाक् की उत्पत्ति देवों या परमात्मा से हुई है ये देव आकाश, वायु, अग्नि, विद्युत् आदि थे। तदनुसार प्रथम एक पद, फिर द्विपद, त्रिपद एवं बहुपद शब्दों की उत्पत्ति हुई।[1] सर्व प्रथम भू, जू, कू, सू इत्यादि एकाक्षर पदों की उत्पत्ति हुई।[2] आकाश में सर्वप्रथम 'भू' ध्वनि हुई, इससे अतिभाषा (मूलभाषा) की 'भू' धातु निष्पन्न हुई। यास्काचार्य मानते थे कि 'देवीं वाचमजनयन्त देवाः' देवों ने भाषा को उत्पन्न किया। उन्होंने मन्त्र और

---

(1) गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमेव्योमन्॥
(ऋ० 1-164-41)

(2) प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत्' (जै० ब्रा० 1-1-101)
स भूरिति व्याहरत स भूमिसृजत। (तै० ब्रा० 2-2-4-2)

ब्राह्मण से उद्धरण देकर अपने मत की पुष्टि की है।[3] वाक् के ये चार रूप कौन से हैं, इसकी यास्क ने अपने समय की मान्यता के अनुसार इस प्रकार विवेचना की है। एक मत से ओंकार और महाव्याहृतियाँ भूः, भुवः और स्वः चार पद (स्थान या लोक) हैं। अन्य (वैयाकरण) मत से नाम आख्यात उपसर्ग और निपात ये चार पद हैं। याज्ञिकों के मत में भाषा के चार भेद हैं—मन्त्र (वेद), कल्प, ब्राह्मण और व्यावहारिकी (लौकिकसंस्कृत)। नैरुक्तमत से ऋक् यजुः साम और व्यावहारिकी ये चार भाषा भेद हैं। एक अन्य मत से चार वाक् है सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र सरीसृपों और मनुष्यों की।[3] सर्वमतों में मनुष्यवाक् ही व्यावहारिकी थी, वही सार्थक भाषा बोलने योग्य थी। केवल ब्राह्मण (विद्वान् मनुष्य) ही वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं को बोल सकता था

'तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्।
(मै० सं० 1-11-5, नि० 13-9)

व्याहारिकी, लोकभाषा, मानुषीवाक्, संस्कृतभाषा—यास्क और पाणिनि के समय में, उससे पूर्व और पश्चात् भी संस्कृत को इन पांच नामों से कहा जाता था। पाणिनि ने प्रायः संस्कृत को भाषा और वैदिकवाणी को छन्दः

---

(3) चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
(ऋ० 1 164 45), 'सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्।' (मै० सं० 1 11 5) (नि० 13 9 पर उद्धृत। (3) 'ओंकारो महाव्याहृतयश्चेति आर्षम्।
नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी **व्यावहारिकीति नैरुक्ताः**······(नि० 13।9)

कहा है ।[1] 'ब्राह्मणग्रन्थों में संस्कृत को प्रायः मानुषीवाक्[2] कहा है। अतः ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व भी लौकिकसंस्कृत का प्रयोग था। यास्क ने 'संस्कृत[3]' शब्द का स्पष्टतः प्रयोग 'मानुषीवाक् के लिए नहीं किया। परन्तु यास्क के कथनों से सिद्ध होता है कि वे 'संस्कारयुक्त' भाषा को ही संस्कृत कहते थे। इसको 'संस्कृत' इसीलिए कहा गया, क्योंकि यह 'संस्कारयुक्त' थी, यतः भले ही यास्क ने संस्कृत' पद का प्रयोग नहीं किया, परन्तु यह पद भाषा के लिये यास्क और उससे पूर्व अवश्य प्रयुक्त होता था, निम्न वाक्यों से स्पष्ट है—
41, तदत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्[4] ।

(2) पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः[5] ।

(3) अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्[6] ।

(4) न संस्कारमाद्रियेत[7] ।

(1) 'जो स्वर और संस्कार (प्रकृति, प्रत्ययादि) से युक्त हों और शास्त्र प्रदर्शित विकारों (धात्वादि) से संयुक्त हों।'

(2) पदों पदेतरार्धों का शाकटायन ने संस्कार किया।

(3) जो व्याकरणलक्षण से और धातु से युक्त हों वे स्पष्टार्थ होते हैं।

(4) सर्वत्र संस्कार (प्रकृतिप्रत्यय) का आदर न करें।

---

(1) द्रष्टव्य सूत्र (अष्टाध्यायी 8 2 97, तथा 8 3 1)

(2) तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम् (नि॰ 13 9, मै॰ सं॰ 1 11 5) काठक संहिता 14 5)

(3) भाषा के लिए प्राचीनतम स्पष्ट संस्कृत नाम वाल्मीकीय रामायण (5 30 1) में मिलता है—'वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ।'

(4) नि॰ (1 12) (5) नि॰ (1 13) (6) नि॰ (1 13), (7) नि॰ (2 1) ।

अतः जब संस्कारहीन भाषा को प्राकृत कहने लगे तो व्याकरणसम्मत शुद्ध भाषा के लिए 'संस्कृत' संज्ञा प्रथित हुई[1]।

प्रथमकोश निघण्टु—भाषाविज्ञान को यास्काचार्य की सबसे बड़ी देन विश्व का सर्वप्रथम शब्द कोश निघण्टु है, निरुक्त उसका व्याख्यान है। निघण्टु में पाँच अध्याय हैं, प्रथम अध्याय में गो से प्रारम्भ करके 415 शब्द हैं, इनमें आख्यात (धातु) भी संकलित है। प्रथम अध्याय में त्रिलोकी से सम्बन्धित पद हैं। द्वितीय अध्याय में मनुष्य और उसके अङ्ग, कर्म, एवं सम्बन्धित पदार्थों का संग्रह है। तृतीय अध्याय में भाववाचक, विशेषण एवं आख्यातों का संकलन है। चतुर्थ अध्याय में दुर्बोध्य (अनवगत) पदों का संकलन है। पंचम अध्याय में त्रिलोकी के देवनामों का संकलन है। निघण्टु में कुल 1771 पद संग्रहीत हैं। निघण्टु में पदों का संग्रह एक विशिष्ट क्रम से किया गया है। यह पहिले ही संकेत किया जा चुका है और पदों का संकलन इस पुस्तक के एक पृथक् अध्याय में किया जा चुका है।

निर्वचनविद्या— इस समय वैदिकपदों के निर्वचन का एकमात्र ग्रंथ नि० है, बिना निरुक्त के प्राचीन या अर्वाचीन कोई भी विद्वान् यथार्थ वेदार्थ को नहीं समझ सकता। निरुक्त में यास्क प्रतिपादित निर्वचन सिद्धान्तों एवं निर्वचनों का पिछले अध्यायों में विवेचन किया जा चुका है, उस सबको यहाँ दुहराना निरर्थक होगा, परन्तु यहाँ कुछ विशिष्ट भाषावैज्ञानिकसिद्धान्तों एवं निर्वचन उदाहरणों को संक्षेप में प्रदर्शित करेंगे, जिससे यास्क का भाषा वैज्ञानिकरूप प्रस्फुटित होगा।

अर्थप्राधान्य—यास्काचार्य ने सर्वप्रथम 'निघण्टु' शब्द का त्रिविध व्याख्यान किया है—निगमन, आहनन और समाहरण (गम्, हन् हृ धातुओं) से निघण्टु पद का अर्थ निर्वचन किया गया है। यास्क ने निर्वचन में पद के अर्थ को

---

(1) एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥ (नाट्यशास्त्र 18 2)

अपने अज्ञान के कारण 'नामधेयप्रतिलम्भ' को समझ नहीं पाता—यथा दवति, दमूना, जाट्य, आट्णार इत्यादि। इस सम्बन्ध में पृथिवी अश्वादि पद स्पष्टार्थक हैं। प्राचीन भारतीयसिद्धान्त[1], जिसे यास्काचार्य भी मानते थे, के अनुसार पदार्थ (पद+अर्थ) या शब्दार्थ नित्य है। पतञ्जलिमहाभाष्य में कात्यायन का प्रथम ही वार्त्तिक है—सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे[2]

शब्दार्थ का यह सम्बन्ध प्रारम्भ में शुद्ध (संस्कृत) शब्दों का ही था, परन्तु विकारों में भी यह सम्बन्ध बना रहा।

शब्दविकृतिसिद्धान्त—यास्काचार्य ने सर्वप्रथम निर्वचनसिद्धान्तों का वर्णन किया है—उनके अनुसार—'जिन पदों में स्वर और प्रकृति प्रत्यय संस्कार समर्थ (यथार्थ) हों और व्याकरणशास्त्र के नियमों के अनुसार हों, सर्वप्रथम उसी दृष्टि से निर्वचन करना चाहिये।[1] परन्तु आचार्य शाकटायन ने इसके विपरीत शब्दार्थ अवगत न होने पर आख्यात (धातु) पदों से और अर्थपदों से प्रकृति-प्रत्यय का संस्कार (संस्कृत) किया। यथा एति और अस्ति धातु से 'सत्य' पद का निर्वचन किया।[2] इस सम्बन्ध में गार्ग्याचार्य का आक्षेप था कि समान कर्म करने वाले सब पदार्थों या कर्त्ताओं को एक ही नाम प्राप्त होना चाहिये, जिसे यास्क ने 'नामधेयप्रतिलम्भ' कहा है। इस सम्बन्ध में शाकटायन और यास्क का सिद्धान्त था कि विस्मृत, अज्ञान आदि के कारण अनेक शब्द अप्रतीतार्थक दृष्टिगोचर होते हैं, यह पाठक का दोष है कि वह

---

(1) सम्बन्धस्य नकर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः। शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात्कृत' कथम्। (व्याडिवचन)

(2) महाभाष्य (प्रथमाह्निक)

---

1. 'तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्याताम् तथा तानि निर्ब्रूयात्' (नि॰ 2।1)।
2. अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान्संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम्। अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च। (नि॰ 1।13)।

समझ नहीं पाता । अतः शाकटायन और यास्क के आख्यात से शब्दसंस्कार सिद्धान्त ठीक है ।

संस्कृत (मानुषीवाक्) के धातुओं से अनेक वैदिक पद बनाये जाते थे, जिन्हें 'नैगम' कहते थे, कुछ लौकिक संस्कृत पद वैदिक धातुओं से बनाये गये । यथा 'दम्' धातु लौकिक है, उससे 'दमूना' वैदिक पद बना और √घृ वैदिक धातु से 'घृतम्' लौकिक पद बना । धातु के कृदन्त या विकार कुछ देशों में अन्य अर्थ में बोले जाते थे, यथा काम्बोज (ईरान) में शवति धातु गत्यर्थ में और आर्यदेश (भारतवर्ष) में इसका विकार (कृदन्त) 'शवः' बोला जाता है ।[1] अतः आर्यदेश में कुछ म्लेच्छ (विकृत) पद बोले जाते थे और म्लेच्छ देशों में संस्कृत (शुद्ध) भाषा बोली जाती थी ।[1] यास्क द्वारा प्रदर्शित यह उदाहरण पाश्चात्य सिद्धान्तों को जड़ से उखाड़ने वाला है जो यह मानते हैं कि लौकिकभाषा वेदपूर्व नहीं थी और संस्कृत को विश्व की आदिमूल भाषा नहीं मानते ।

पदचतुष्टयसिद्धान्त—भाषा के समस्त पदों को—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—में विभक्त करना—प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञान का प्रायः सर्वमान्य सिद्धान्त था, जिसका व्याख्यान यास्काचार्य ने प्रथम तीन अध्यायों में विस्तार से किया है, अतः उसकी पुनरावृत्ति व्यर्थ है ।

शब्दानुकृतिसिद्धान्त—यास्काचार्य ने निरुक्त में यत्र तत्र अनेक भाषा वैज्ञानिकसिद्धान्तों का निर्देश किया है । भाषाविज्ञान का एक प्रसिद्ध मत है कि जिसे प्रसिद्ध विकासवादी मानते हैं कि भाषा का विकास या उत्पत्ति शब्दानुकृति से हुई, यथा पशुपक्षियों या तथाकथित आदिम मानव ने जो

---

1. 'शवतिर्गतिकर्मा कंबोजेष्वेव भाष्यन्ते···विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति ।' (नि० 2।2) ।

प्रारम्भिक ध्वनियां कीं; वे ही कालान्तर में शब्द बन गये। ब्राह्मणग्रन्थों में 'भू' आदि पदों की उत्पत्ति का यही तात्पर्य लगाया जा सकता है।[2] यास्काचार्य ने औपमन्यव के मत को प्रदर्शित करते हुये काकादि पदों में शब्दानुकृति का खण्डन किया है।[3]

निर्वचनविद्यानिदर्शन—सम्पूर्ण निरुक्तशास्त्र निर्वचनविद्या का ही आकरग्रन्थ है, पुनः कुछ विशिष्ट पदों के निर्वचनों का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं, जिससे कि सामान्यबुद्धि पाठक एकत्र उदाहरण देख सकें।

विचकद्राकर्ष:—इसका अर्थ है आखेटकारी कुत्ते को खींचने वाला पुरुष है 'विचकद्रः' शब्द से ही हिन्दी शब्द 'कुत्ता' बना है। द्राति का अर्थ है गति और कद्राति हुई कुत्सित गति, उसी से अभ्यास करके चकद्राति पद बना—बीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते द्रातीति गतिकुत्सना'''तदस्मिन्नस्तीति विचकद्रः।[4]

पुरुषः—इस शब्द की यास्काचार्य ने कुछ विलक्षण निरुक्ति की है—पुरि (शरीर या ब्रह्माण्ड में) शयः (सोने वाला=आत्मा=परमात्मा) हुआ पुरुष अथवा पुर में षादः—(बैठने वाला) आत्मा अथवा √ पूरयति से यह पद बना है।[5]

अन्नम्—यास्क ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है—'अन्नं कस्मात्। आनतं भूतेभ्यः। अत्तेर्वा। 'अन्न किससे। प्राणियों के लिये सब ओर से झुका हुआ अथवा अत्ति धातु रूप से यह बना है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्क की इस व्युत्पत्ति को बालिश कहा है तथा पं० भगवद्दत्त ने वर्माजी की इस सम्बन्ध में घोर आलोचना की है।[6]

---

2. स भूरिति व्याहरत। स भूमिमसृजत, (तै० ब्रा० 2।2।4।2)।
3. काक इति शब्दानुकृतिः। तदिदं शकुनिषु बहुलम् न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यव। (नि० 3।18)
4. नि० (2।3)।

(5) पुरुषः पुरि षादः। पुरिशयः। पूरयतेर्वा (नि० 2 3)

(6) द्र० निरुक्तशास्त्र (पृ० 163 पं० भगवद्दत्त) (3) (नि० 3 10)

एकद्वित्रिचतुरादि संख्या—इन संख्याओं का निर्वचन यास्क ने इस प्रकार किया है—'एक इता संख्या। द्वौ द्रुततरा संख्या। त्रयस्तीर्णतमा संख्या। चत्वारश्चलिततमा संख्या...'[3]। 'एक सब ओर गत संख्या, 'द्वि' एक से अधिक तीव्रतर संख्या. त्रि तीर्णतमा (तैरी हुई) संख्या, चत्वार:—बहुत आगे गई संख्या। इसी प्रकार अष्ट आदि पदों की यास्क ने व्याख्या की है। कुछ लोगों को ये निर्वचन हास्यास्पद प्रतीत होते हैं, परन्तु लोगों को यास्क की यह प्रतिज्ञा स्मरण नहीं रहती कि अन्वितार्थ के प्रतीत न होने पर अक्षर और वर्ण की समानता से निर्वचन करे, निर्वचन अवश्य करे।3

इसी प्रकार यास्क ने शतशः पदों की विचित्र और विलक्षण निरुक्ति की है। कुछ लोगों को ये हास्यास्पद या बालिश प्रतीत होती हैं, कुछ को विद्वत्तापूर्ण।

अतः महर्षि यास्क भाषाशास्त्र के श्रेष्ठतम विद्वान् थे, जिससे न केवल भारतवर्ष बल्कि सम्पूर्ण विश्व गौरवान्वित है। निर्वचन के मूलसिद्धान्तों का संक्षिप्त उल्लेख यास्क ने—प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते (नि॰ 2 1) इत्यादि प्रकरण में किया है। इन सब सिद्धान्तों के आधार पर ही आधुनिक भाषाविज्ञान के अनेक नियम बने। यह व्याकरण का भी विषय है। अतः आधुनिक विश्व के भाषा वैज्ञानिक और वैयाकरण यास्काचार्य के अत्यन्त ऋणी हैं।

यास्क का वैयाकरणत्व—आचार्य पाणिनि और यास्क के वैयाकरणिक पदावली में महती समानता है, इससे सिद्ध होता है कि यह पदावली यास्क से बहुत पूर्व चिरकाल से प्रचलित हो चुकी थी। निश्चय ही यास्क और पाणिनि सहस्रों वर्ष पूर्व इन्द्र, भारद्वाज, गार्ग्य, गालव, शाकटायन आदि सैकड़ों वैयाकरण और नैरुक्ताचार्य हो चुके थे, जिससे यास्क या पाणिनि को पारिभाषिक पदों के व्याख्यान की आवश्यकता नहीं पड़ी।

---

(3) अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात् न त्वेव न निर्ब्रूयात्। (नि॰ 2 1)

यास्काचार्य ने निरुक्त में व्याकरण, वैयाकरण, अक्षर, वर्ण, नाम (संज्ञा) संहिता, आख्यात (धातु), उपसर्ग, निपात, अव्यय, व्यय, आदि अनेक पदों का प्रयोग किया है। यास्क ने धातु को आख्यात, कर्म और प्रकृति नाम से अभिहित किया है, अर्थ शब्द भी प्रायः इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने अकर्मक धातु (नि० 5 23) शब्द का प्रयोग किया है जिससे सिद्ध होता है कि अकर्मक और सकर्मक पद धातु के लिए सामान्यत प्रयुक्त होते थे। यास्क ने सम्प्रसारण गुण, वृद्धि और संहिता (सन्धि) का प्रयोग किया है। संज्ञा को नाम कहा जाता था और नामरूप को विकृति कहते थे। सर्वनाम[1] पद का यास्क ने स्पष्टतः प्रयोग किया है। स्वरों का स्पष्ट निर्देश है—अनुदात्त, उदात्त, स्वरितादि। 'संस्कार'[2] पद का यास्क ने अनेकश विशिष्ट प्रयोग किया। सम+√कृ से संस्कार और संस्कृत (भाषा) पद बने हैं। प्रकृति (धातु) के साथ प्रत्ययादि के योग को 'संस्कृत' कहा जाता था, इसी संस्कारयुक्त प्रयोग के कारण व्याकरणसम्मत लोकभाषा को संस्कृत कहा गया। जिस पद का संस्कार (प्रकृतिप्रत्यय) समझ में नहीं आता था, उसे 'अनवगत संस्कार[3]' (4।1) कहा जाता था।

इनके अतिरिक्त यास्क ने निम्न पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जिनका अर्थ व्याकरणशास्त्र में प्रायः प्रसिद्ध ही है—अभ्यास, आत्मनेपद परस्मैपद, पुरुष, विभक्ति (प्रथमादि), प्रत्यय, कृत, तद्धित, समास, एकवचनादि लोप, उपधा, अन्वादेश, प्रतिषेध इत्यादि। 'अन्तकरण' शब्द का प्रयोग प्रत्ययार्थ में किया गया है। यास्क ने 'य', त्य, 'था' 'विन्' आदि प्रत्ययों के उदाहरण दिये हैं, अतः यास्क का वैयाकरणरूप सिद्ध है।

---

(1) त्व इति विनिग्रहार्थीयम् सर्वनामानुदात्तम्। (1 7)

(2) तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। (नि० 2 1);

(3) अनगतसंस्कारांश्च निगमान्, नि० 4।1);

अलंकारशास्त्री यास्क—आचार्य ने निरुक्त में अनेकविध उपमा अलंकारों[1] का निर्देश किया है, उपमा का सामान्य अर्थ है समता या तुलना। परन्तु यास्क ने उपमाओं का जिस रूप में वर्णन किया है वे निश्चय ही काव्यालङ्काराङ्गभूता हैं। उपमा का लक्षण गार्ग्य के प्रमाण से यास्क ने इस प्रकार लिखा है—अथात उपमा:। यदतत् तत्सदृशम् इति गार्ग्य:।[2] अधिकोपमा और हीनोपमा का लक्षण कहा है—'ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयसा वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते।[3] यास्कने अनेकविध उपमाओं के उदाहरण दिये हैं—कर्मोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा, अर्थोपमा, शब्दोपमा—अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते। सिंहो, व्याघ्र इति पूजायाम्। श्वा, काक इति कुत्सायाम्।[4]

अत: यास्क से पूर्व अलङ्कारशास्त्र विख्यात था और यास्क उसमें पारंगत थे। यास्क शब्दशक्तियों अभिधा, लक्षण, व्यञ्जनादि से भी परिचित थे।

याज्ञिक यास्क—निरुक्तशास्त्र से प्रकट है कि यास्काचार्य महान् याज्ञिक थे। महाभारतकाल में उनकी प्रसिद्धि परमयाज्ञिक के रूप में थी, जैसा कि महाभारतग्रन्थ में स्वयं कृष्ण यास्क के प्रति कहते हैं—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
स्तुत्वा मां शिपिविष्ट इति यास्क ऋषिरुदारधी:॥[5]

यास्क ऋषि ने शान्तभाव से अनेक यज्ञों में मेरी स्तुति शिपिविष्ट (विष्णु) नाम से की है। यास्क अत्यन्त उदारधी ऋषि थे।'

यास्काचार्य ने किसी कल्पसूत्र की रचना की थी, ऐसा हारलता आदि ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। निश्चय से यास्क ऋषि की याज्ञिकता सिद्ध ही है।

इतिहासविद् यास्क—ऋषि यास्क यद्यपि पूर्णत: नैरुक्तसम्प्रदाय के वैदिक विद्वान् थे, तथापि उन्होंने इतिहासविद्या का पूर्ण समादर किया, यह निरुक्त

---

(1) उपमा सबका मूल और बीज है—तन्मूलं चोपमेति सव विचार्यते (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, वामन 4 21); (2) नि० (31 3)
(3) नि० (31 3) (4) नि० (3 18) (5) शान्तिपर्व (342 72)

दार्शनिक यास्क—आचार्य यास्क महाभारतयुग के प्रसिद्ध दार्शनिक भी थे, वे कपिल, आसुरि, व्यास और याज्ञवल्क्य की कोटि के दार्शनिक थे। शतपथ ब्राह्मण या बृहदारण्यक (2 5) में मधुविद्या के आदि प्रवक्ता दध्यङ् आथर्वण देवर्षि देवयुगीन ऋषि थे, उन्हीं की परम्परा में यास्क और आसुरि जैसे दार्शनिक हुये। इस मधुविद्या का सृष्टिविद्या और सांख्यदर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध था। यास्क का आत्मज्ञान, अध्यात्म और सांख्यज्ञान निरुक्त से प्रकट है, विशेषतः त्रयोदश और चतुर्दश अध्याय में। यद्यपि इससे पूर्व किसी प्राचीन उपनिषद् से यह श्लोक यास्क ने द्वितीय अध्याय में उद्धृत किया है—

यस्मात्परं नापरमस्ति···पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। (नि० 2।3)

इस श्लोकान्तर्गत 'पुरुष' पद की 'आत्मपरक' व्याख्या की है—'पुरुषः पुरिषादः पुरि शयः।' अन्यत्र यास्क ने आत्मा[2], जीव, स्थूलशरीर, एकादश इन्द्रिय, सप्त इन्द्रिय, बुद्धि, प्रकृति, महत् त्रिगुण (सत्त्व रजः और तमः) एवं उर्ध्वगति का सांख्य और उपनिषद् की सरणि पर वर्णन किया है, अतः यास्क अपने युग के महान् दार्शनिक थे, स्पष्ट है।